श्री परमात्मने नमः

परमार्थ के पथ में

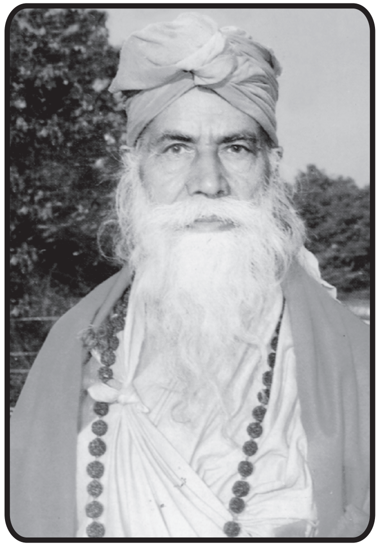

लेखक
साधुवेश में एक पथिक

प्रकाशक
श्री स्वामी पथिक अखिल भारतीय दातव्य सेवा समिति
28, विधान सभा मार्ग, लखनऊ -226 001
मोबाइल: 9415062640

परमार्थ के पथ में..

लेखक
साधु वेश में एक पथिक

प्रकाशक
श्री स्वामी पथिक
अखिल भारतीय दातव्य सेवा समिति
28, विधान सभा मार्ग, लखनऊ -226 001
मोबाइल: 9415062640

सहयोग
श्रीमती नीलम अग्रवाल
श्री राकेश अग्रवाल

संशोधित संस्करण : जून 2010

लागत मूल्य 40.00

जो श्रद्धालु साधक संत पथिक जी के इन प्रकाशनों को समय-समय पर प्रकाशित करवाने में अपना सहयोग देना चाहें और अपने प्रियजनों का नाम भी छपवाना चाहें तो वह श्रद्धालु सहयोग राशि 'हर्ष कुमार सूरी' के नाम से खाता संख्या **CBS A/c 0293000109120890** पंजाब नैशनल बैंक, गौतम बुद्ध मार्ग, लखनऊ में सीधे डाल सकते हैं। ईश्वरीय कार्य में आपका सहयोग अविस्मरणीय रहेगा। इस प्रक्रिया में बैंक कोई कमीशन नहीं लेगा।

मुद्रक : क्रियेटिव प्वाइंट एफ-25, जयहिन्द काम्प्लेक्स,
बी. एन. रोड, कैसरबाग, लखनऊ फोन : 0522-3012827

विषय सूची

(गद्य)

1.	प्रक्कथन	1
2.	जागृति संदेश	10
3.	जीवन और उसका सदुपयोग	60
4.	शक्ति और सफलता	64
5.	धर्म	71
6.	दुःख की महिमा	80
7.	मानना और जानना	90
8.	साधकों से	96
9.	श्रद्धा	134
10.	श्रद्धा के साथ प्रेम	138
11.	विरहयोग	144
12.	ज्ञानी	150
13.	प्रेमास्पद और प्रेमी	159
14.	संकल्प की महत्ता	186
15.	समाधान	188

(पद्य)

1.	शुभ अवसर बीते जाते हैं	9
2.	वह नर बड़भागी हैं जिनको	59
3.	बस प्रार्थना प्रभु से मेरी यही	63
4.	इतनी ही दया है कहाँ कम	70
5.	दुःखों से अगर चोट खाई न होती	89
	जानने और मनन योग्य	196

प्रार्थना

हे नाथ अब तो ऐसी दया हो,
जीवन निरर्थक जाने न पाये।
ये मन न जाने क्या-क्या दिखाये,
कुछ बन सका न मेरे बनाये।।
संसार में ही आसक्त रह कर,
दिन-रात अपने मतलब की कहकर।
सुख के लिये लाखों दुःख सहकर,
ये दिन अभी तक यों ही बिताये।।
ऐसा जगा दो फिर सो न जाऊँ ।
अपने को निष्काम प्रेमी बनाऊ ।
मैं आपको चाहूँ और पाऊँ ,
संसार का कुछ भय रह न जाये।।
वह योग्यता दो सत्कर्म कर लूँ ।
अपने हृदय में सद्भाव भर लूँ।
ऐसा समय फिर आये न आये।।
हे प्रभु हमें निरभिमानी बना दो,
दारिद्र हर लो दानी बना दो।
आनन्दमय विज्ञानी बना दो,
मैं हूँ 'पथिक' यह आशा लगाये।।

श्री परमात्मने नमः

प्राकथन

अपने जीवन में ऐसा भी समय आया कि मेरी बुद्धिरूपी दृष्टि खुली परन्तु देखने पर अपने चतुर्दिक सब कुछ अन्धकार-वेष्टित दिखाई पड़ा। मुझको प्रकाश की आवश्यकता प्रतीत हुई और प्रकाश में पहुँचाने वाले सद्‌गुरु का आश्रय लिया, तभी से मैंने देखना आरम्भ किया। देखते-देखते आज एक निष्कर्ष में पहुँचा हूँ कि संसार में जो कुछ भी अनन्त है, असीम है, अविनाशी है वही सत्य है, वही सर्वाधार है। मैं यह भी देख रहा हूँ कि उस अनन्त, असीम सत्य में ही सभी प्राणी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सीमा बना कर सीमित अर्थ (लाभ) की प्राप्ति में और उसके भोग में सीमित सुखों एवं दुखों का अनुभव करते हुए खेल रहे हैं, लेकिन अपने जीवन की दुर्गति, सद्‌गति और परमगति को नहीं समझ पा रहें है, क्योंकि अधिक संख्या में ऐसे प्राणी हैं जो बुद्धिरूपी दृष्टि से हीन हैं और जो दृष्टिवाले हैं वे ज्ञानरूपी प्रकाश नहीं पा रहे हैं । ऐसे मनुष्य जीते हुए भी जीवन के उद्‌देश्य को, उसके महत्व को नहीं जानते, इसीलिये उसका सदुपयोग भी नहीं करते। वे प्रायः निर्बलता, अशक्तता के संगी बनकर अपने भाग्य को धिक्कारते हुए खिन्न रहते हैं, लेकिन जागृत सत्पुरुषों की शरण जाकर शक्ति के मुख्य स्रोत-स्थल को एवं उसकी प्राप्ति के साधन को नहीं समझते।

अज्ञान से धिरे हुए मनुष्य सीमित सुखों के कारण ही दुःख भोगते रहते हैं फिर भी दुःख का मूल कारण नहीं देख पाते और दुखी होकर बार-बार सुख चाहते हैं। जिसके परिणाम में दुखी होते हैं, उस सुखेच्छा का विवेक द्वारा त्याग नहीं कर पाते।

कुछ बुद्धि-प्रधान मनुष्य परम शान्ति के लिये धर्म की शरण लेते हैं, किसी मत सम्प्रदाय के अनुयायी बनते हैं, परन्तु जब तक सन्त-सद्‌गुरु से यथार्थ ज्ञानरूपी प्रकाश नहीं प्राप्त होता तब तक विश्वास के सहारे अन्धकार-पूर्ण पथ में यात्रा करते हैं, ठोकरें खाते हैं, गिरते हैं, और सहन करते हुए फिर उठते हैं, चलते हैं। कभी-कभी अपने माने हुए धर्म-कर्तव्य एवं ईश्वर के ऐसे कट्टर पक्षपाती हो जाते हैं कि अपने हठाग्रह, दुराग्रहवश किसी के सत्य-सन्देश को भी नहीं सुनते समझते।

बहुत मनुष्य अपने असंशोधित एवं अपरिमार्जित संग-संस्कार तथा

भाव और असत् ज्ञान के अभिमान में स्वेच्छाचारितापूर्वक मनमुखी दिशा में सत्य सिद्धांत की कल्पना करते हुए भटकते रहते हैं। बहुत मनुष्य विविध चमत्कारों के पीछे, या भयंकर रोमांचकारी घटनाओं के पीछे या जहाँ से उनकी कामनायें पूर्ण होती हैं, उन प्रकृति की शक्तियों को ही परमात्म-तत्व मानकर वरदान और शाप से प्रलोभित या भयभीत रहकर उन्हीं के उपासक बनते हैं।

सत्य बात तो यह है कि जब तक मनुष्य के भाव पवित्र नहीं होते, सन्त-सद्‌गुरुदेव के प्रति जब तक उसकी श्रद्धा सात्विक नहीं होती, एवं सरल जिज्ञासापूर्वक सत्‌शास्त्र सद्‌गुरुदेव की वाणी पर विचार नहीं होता, इसके फलस्वरूप जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता और तद्‌नुसार निष्काम प्रेम नहीं होता तब तक किसी को अन्य किसी प्रकार से भी परम शांति एवं परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यह पथिक स्वयं इस जीवन की चौदह साल की अवस्था से ही अपनी सरल जिज्ञासा से प्रेरित होकर विश्वासमार्गी पुरुषों में प्रचलित साधन पद्धतियों के बीच से होकर चलता हुआ विचार-मार्ग को पा सका है।

इस पथिक ने भी मूर्तिपूजा की, पाठ भी किया, हठयोग का आश्रय लेकर कभी ग्रीष्मऋतु की दुपहरी में पंचाग्नि तपी, कभी शरदऋतु के शीतल जल में शीत सहन का अभ्यास किया, कभी वर्ष के वर्ष फलाहार, दुग्धाहार करते हुए या कच्चा अन्न खाकर बिताये, इसके अतिरिक्त कीर्तन की धुन लगी तो रात-रात कीर्तन करके देखा-सैकडों संकीर्तन पदों की रचना कर डाली। इसके साथ-साथ जप का अभ्यास तो सदा से अधिकाधिक चलता ही रहा। यह सब कुछ करते हुए यही अनुभव किया कि किसी भी क्रियात्मक साधन के पीछे भाव ही प्रधान है। भाव से ही प्रत्येक साधन में सफलता प्राप्त होती है। भाव यदि पवित्र न हुआ तो वर्षों मूर्तिपूजा की जाय, पाठ किया जाय, संकीर्तन, जपादि कोई भी साधन करते हुए परम शांति नही मिल सकती। मीराजी की साधना में गिरधरगोपाल की मूर्ति के पीछे केवल भाव-प्रेम की ही विशेषता थी। चैतन्य महाप्रभु की संकीर्तन साधना के पीछे भाव एवं प्रेम ही प्रधान था। यह भक्त हृदय मूर्ति-पूजा, पाठ एवं संकीर्तन के द्वारा महत्व को प्राप्त नहीं हुए थे बल्कि इनके परमोत्कृष्ट भाव-प्रेम के कारण किसी मूर्ति एवं संकीर्तन को महत्व मिला था। आज भी लाखों पुजारी हैं, लाखों कीर्तन करने वाले, पाठ करने वाले हैं, परन्तु उनमें कोई विरले ही अपने पवित्र भाव-प्रेम के

कारण साधन पथ में सफलता प्राप्त कर रहे हैं। भाव प्रेम की कमी के कारण हजारों भटक रहे हैं। कोई सांसारिक सुखों के लोभवश, कोई उनके नष्ट होने की आशंका से भयवश, प्रकृति की विविध शक्तियों का आश्रय ले रहे हैं, और प्रायः काल्पनिक सुख सफलता से मन मनाते हुए अपने ज्ञान का गर्व कर रहे हैं। वर्ष के वर्ष उसी जगह पर शक्ति समय नष्ट करते हुए अपनी भूल को नहीं जानते और इसीलिए नहीं जानते कि इस प्रकार पथभ्रान्त, दुःखाक्रान्त, लक्ष्यविहीन, सत्यसाधनहीन मनुष्यों को तत्वदर्शी ज्ञानियों का सदुपदेश प्राप्त नहीं हुआ। सन्त-सद्गुरु से समझे बिना ही अविवेकी मनुष्य अपने को श्रद्धालु, भक्त, त्यागी एवं ज्ञानी और प्रेमी मानने लग गए।

इस प्रकार के व्यक्ति अविचारवश स्वयं भूलते हैं और दूसरों को भी अपने पीछे भुलाते फिरते हैं; ऐसे ही लोगों के लिये यह पुस्तक लिखी गई है। योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् के ही यह वचन हैं -

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।।
(गीता अ० ४/३४)

'(अहंकाररहित नम्रता और सरलतापूर्वक) दण्डवतप्रणाम करके विधिवत् प्रश्नों के द्वारा तू उस (ज्ञान) को जान; तत्वदर्शी ज्ञानी तुझे (उस) ज्ञान का उपदेश करेंगे।'

भगवान् के इन वचनों के विरुद्ध जो व्यक्ति तत्वज्ञान एवं तत्वज्ञानी की कुछ भी चिन्ता न करके विराग, त्याग, नियम, संयम के बिना ही केवल तीर्थों में जाकर, जल में गोता लगाकर, कुछ दान देकर, या कुछ पूजा, पाठ, मन्त्र, जप और यज्ञादि के द्वारा ही भवसागर से तर जाने की आशा करते हैं, वह भ्रमित हैं, भूल रहे हैं उन्ही लोगों को इस पुस्तक में जागृति का सन्देश मिलेगा, अन्धकारपूर्ण विश्वास-मार्ग में चलते हुए बुद्धिरूपी दृष्टि खोलने की प्रेरणा मिलेगी, एवं उस दृष्टि के आगे ज्ञानरूपी प्रकाश पाने की युक्ति मिलेगी, उसी प्रकाश में सत्-असत् का यथार्थ दर्शन होगा, उस दर्शन से असत् सम्बन्ध का त्याग और सत् सम्बन्ध से पूर्ण अनुराग होगा।

विश्वास-मार्ग में चलनेवाले भक्तों को अपने पथ-प्रदर्शक ग्रन्थ -रामचरितमानस के शब्द याद रखना चाहिये :-

मिलैं न रघुपति बिनु अनुरागा, किये कोटि जप जोग विरागा।

और अनुराग प्राप्त के लिए भी :-

बिनु सत्संग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु रामपद, होय न दृढ़ अनुराग।।

वहाँ भक्तों के भगवान् अपनी प्राप्ति का सीधा मार्ग दिखाते हैं :-

'निर्मलमन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छलछिद्र न भावा।।'

परन्तु भक्त लोग इसकी कोई परवाह न करके अपने कल्याण के निराले मार्ग चुनते रहते हैं। कोई मंदिरों में जाकर केवल मूर्ति दर्शन करते हुए, कोई अक्षत, चन्दन, पुष्पादि द्वारा पूजा आरती करते हुए भगवान के प्रसन्न हो जाने की कल्पना से मन मनाते रहते हैं, किन्तु अपने कर्मों के पीछे रहने-वाले भावों की पवित्रता पर ध्यान नहीं रखते और अपने विचारों के आगे आने वाले सत्य लक्ष्य को नहीं जानते।

सत्य शान्ति की खोज में भ्रमित एवं श्रमित भाइयों! सुन लो, समझ लो, और चतुर्दिक दृष्टि फैलाकार देख लो। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, यह पहुँचे हुए महान पुरुषों का सन्देश है, मैंने इसे सत्य समझा है।

वह परम शान्तिमय परमानन्द स्वरूप, जो भक्तों के भावानुरूप चिद्घन भगवत्सत्ता है, जो गीता का परमात्मतत्व है, जो उपनिषदों का सर्वमय चिन्मात्र स्वरूप ब्रह्मतत्व है, वह न आकाश में जाने से मिलेगा, न पाताल में प्रवेश करने से मिलेगा, न पहाड़ों में न समुद्र-तट में ही मिलेगा, न वह मन्दिर में, न मूर्ति में, न वर्ण में ही मिलेगा, न वह किसी मत सम्प्रदाय में मिलेगा, न किसी ग्रन्थ में ही मिलेगा, और यदि अन्तःकरण शुद्ध न हुआ तो तप, व्रत, यज्ञ जपादि से भी नहीं मिलेगा। जो कहीं भी किसी प्रकार से भी नहीं मिलेगा वही अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर सद्ज्ञान से मिलेगा एवं विशुद्ध प्रेम से मिलेगा और अपने आप में ही मिलेगा। यहाँ मिलते ही फिर तो सर्वमय सबमें मिलेगा।

अतः उस परमानन्दमय परमतत्व का योगलाभ करने के लिये आवश्यकता है परम प्रेम की एवं विशुद्ध ज्ञान की, और इनकी प्राप्ति के लिए अन्तःकरण निर्मल हो जाने की। इसी का उपाय इस पुस्तक में बताया गया है।

पुस्तक पढ़ते समय पाठक सज्जन मेरे इस विनम्र निवेदन पर ध्यान रक्खें! कहीं-कहीं मेरे शब्दों में मत, सम्प्रदाय एवं धर्म और मंदिर, मूर्ति, तीर्थ, पूजापाठ आदि साधन विषयक प्रचलित प्रथाओं पर कुछ आक्षेप सा प्रतीत होता है, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मैं सबका खण्डन करके अपना कोई विशेष मत या अपना कोई नवीन सिद्धान्त स्थापित करने की धृष्टता कर रहा

हूँ। मुझे किसी भी ऐसे मत सम्प्रदाय से, किसी भी धर्म से एवं किसी भी मन्दिर, मूर्ति आदि आधारों से या किसी भी ऐसे ग्रन्थ से विरोध नहीं, जो मानव जाति को सत्य की ओर ले जाने वाला है, अर्थात् जिसकी शरण में परम शान्ति मिलती है, जिनके द्वारा मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें सद्ज्ञान का प्रकाश और समुचित पावन प्रेम का चतुर्दिक, भीतर-बाहर आभास मिलता है। लेकिन आजकल जहाँ तक मैंने देखा, कहाँ तक स्पष्ट करूँ, किसके-किसके विषय में कहूँ, आज के बहुसंख्यक विषयोपासक, देहाभिमानी, कुलाभिमानी, विद्याभिमानी मनुष्यों ने अपनी स्वार्थान्धमति से सत्पथ-प्रदर्शक महान् पूरुषों के पवित्र सिद्धान्त एवं उद्देश्य को क्रूरतापूर्वक अति कुरूप बना दिया है। स्वयं सन्तों, महान् पुरुषों के बताये हुए साधनों की शरण में न जाकर उन्हें अपने क्षुद्र अहं की सीमा में सीमित कर लिया है, अर्थात् अपने अहं को उनमें न खोकर उन्ही को अपने क्षुद्र अहं के साथ लपेटने का दुःसाहस किया है। किसी मत, सम्प्रदाय या ईश्वर-भक्ति के विविध साधन आदि अपने-अपने स्थान में सभी उपयोगी हैं, और सुन्दर हैं, परन्तु विवेकहीन मनुष्य उनका दुरुपयोग कर रहे हैं।

इस धर्मप्रधान देश में वेद, शास्त्र, श्रुति-स्मृति आदि सत्य-धर्मोपदेशक परमोत्कृष्ट ग्रन्थ सदा सुलभ हैं। आज भी योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् के श्रीमुख से निकली हुई सत्कर्म, सद्धर्म एवं सद्ज्ञान का मार्ग दिखानेवाली गीता ऐसी परम निधि सर्वसाधारण मनुष्यों के करतल गत है; उसी के व्यावहारिक वेदान्त-रूप अद्भुत ज्ञान से अन्य-अन्य देशों की भी जनता लाभ उठाते हुए कृतकृत्य हो रही है। इसके अतिरिक्त नीति, रीति, प्रीति एवं श्रद्धा, भक्ति अथवा प्रेम-पथप्रदर्शक रामचरितमानस सरीखे अति सरल भाषा ग्रन्थ प्रायः घर-घर प्रतिष्ठित हैं, परन्तु मूढ़ मनुष्यों की दुर्बुद्धि पर खेद होता है; क्योंकि जो धर्म-ग्रन्थ मानव जाति में यथार्थ ज्ञान की जागृति के लिए रचे गये हैं, आज अनेकों मनुष्य ऐसे हैं जो सिंहासन में स्थापित करके उनकी पूजा स्तुति मात्र करते हैं। कुछ इनमें आगे बढ़े हुए सभ्य मनुष्य हैं जो यन्त्रवत् इन धर्मग्रन्थों का पाठ मात्र करके अपनी सर्व कामनाओं के पूर्ण होने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। जो इन लोगों से भी अधिक बुद्धिमान हैं वे इन धर्म ग्रन्थों को अपनी उदरपूर्ति का साधन बनाकर, इनकी कथा सुनाते फिरते हैं, इस प्रकार के कथा वाचक, श्रोता लोगों को तो ईश्वर की भक्ति का उपदेश देते हैं, लेकिन स्वयं धनी, मानी, राजा, रईसों की भक्ति करते रहते हैं। श्रोता लोगों को अन्तर्मुख

वृत्ति के द्वारा ईश्वर का ध्यान बतातें हैं और स्वयं बहिर्मुख वृत्ति द्वारा धनसम्पन्न श्रीमान् पुरुषों का ध्यान दीखते हैं।

कुछ ऐसे भी महान पुरुष हैं जो अपने धर्मग्रन्थों के ज्ञान प्रकाश को अनभिज्ञ मानव-समाज में उतारते रहते हैं और इस सेवा के बदले में कुछ भी नहीं चाहते वरन् अपना कर्तव्य समझते हुए परहित करने में कहीं भी आलस्य, प्रमाद नहीं करते। परन्तु इस प्रकार के परोपकारी सत्पुरुषों की बात सुनने समझनेवाले श्रद्धालु जिज्ञासु बहुत ही कम दीखते हैं।

अधिकतर मनुष्य ऐसे धर्म को ठीक मान रहे हैं, ऐसे मत सम्प्रदाय की शरण ले रहें हैं, ऐसे ईश्वर की खोज कर रहे हैं और ऐसे आचार्य अथवा गुरु को पसन्द कर रहे हैं जो त्याग, तप, संयम, साधन के बिना शान्ति दे सकता हो, जहाँ प्रवेश करते ही पाप-अपराध क्षमा कर दिये जाते हों, जो इनकी सभी कामनाओं को पूर्ण कर सकता हो, जिसके दर्शन मात्र से दुःखों से मुक्ति मिल जाती हो। इस प्रकार की बालकवत् बुद्धि रखते हुए मनुष्य हठ एवं दुराग्रहवश सन्तों की समीपता से भी तब तक उचित लाभ नहीं उठा पाते जब तक अपनी भूल को समझकर उसे दूर नहीं करते।

किसी अनुभवी सज्जन ने सत्य ही कहा है :-

जे पहुँचे तिन पूँछिये, उनका एकै घाट।
सब सन्तों का एक मत, विचके बारह बाट।।

आजकल जिन्हें परम लक्ष्य का वास्तविक बोध नहीं प्राप्त हुआ उन बीच की अनेकों राहों पर भटकनेवालों ने अपने सुभीते के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की नीति-रीति में धर्म को बाँधकर स्वरुचि के अनुसार उनके नाम रूप की रचना कर ली है। जिन धर्मों का अवलम्बन लेने से सद्गुण विकास एवं परम शान्ति मिलनी चाहिये, उन्ही नाना प्रकार के प्रचलित धर्मों का सर्वनाश करना ही धर्म बन जाता है। प्रायः आजकल संसार में प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे व्यक्ति के लिये धर्मद्रोही सिद्ध हो रहा है।

अनेक प्रकार के धर्मावलम्बियों की तरह अनेक प्रकार के आस्तिक भी दिखाई देते हैं, इन लोगों ने भी अपने जातीय संस्कारों के आधार पर आस्तिकता का गर्व रखते हुए अनेक तरह के ईश्वरों की कल्पना कर रक्खी है। ये लोग अपने अपने ईश्वर को श्रेष्ठ मानते हुए दूसरे के ईश्वर को तुच्छ ठहराते हुए परस्पर ही एक दूसरे से ईर्ष्या, द्वेषपूर्वक लड़ते हुऐ दिखाई देते हैं।

जहाँ सत्य-धर्म एवं सन्त सद्गुरु और ईश्वर की उपासना करते हुए पशुता में मानवता आती है, मानवता में दैवत्व विकसित हो जाता है और दैवत्व में ईश्वरत्व प्रकाशित होता है वहाँ आजकल के सत्य-धर्म विरुद्ध उपसकों की जो कुछ दशा है वह बृद्धिमान् पुरुष विचार करके देख सकते हैं। आजकल उन पवित्र तीर्थों में जाकर देखिए जहाँ जाने से हर एक प्रपञ्चव्यस्त मनुष्य को सज्जन, साधु, त्यागी, वीतरागी परम भावुक-भक्त एवं ज्ञानी तत्वदर्शी सत्पुरुषों का सत्संग-समागम प्राप्त होता था, भाव प्रवित्र होते थे, सत्-असत् पदार्थ का ज्ञान होता था और शान्ति मिलती थी-आज उन्ही तीर्थों में, मन्दिरों-मठों में भी प्रायः धन, जन और तन तक की रक्षा करना प्रथम कर्तव्य होता है। शान्ति तो दूर से भी नहीं दिखाई देती बल्कि सज्जन विचारवान् पुरुषों को इन स्थानों में प्रायः सुख भी नहीं प्रतीत होता, लेकिन कामी, क्रोधी, दुराचारी, लोभी प्रकृतिवालों के लिए प्रायः अच्छे अवसर मिल जाते हैं। तीर्थों, मन्दिरों और पर्वों में धर्मात्मा धनिकों के लिये पहिले कभी दान-पुण्य का बहुत सुन्दर अवसर मिल जाता था, परन्तु आजकल ऐसे मन्द मतिवाले अन्धविश्वासी धनिक हैं, जो कि कुपात्र-सुपात्र का विचार ही नहीं करते और अपने दान के द्वारा कितने ही व्यक्तियों को अकर्मण्य बनाते हुए उनके दुराचार, व्यभिचार और दुर्व्यसनों की कुप्रवृत्ति को पोषण करते रहते हैं। ऐसे बहुत अधिक लोग हैं जो भिक्षावृत्ति से धन प्राप्त कर उस धन का दुर्व्यसनों में दुरुपयोग करते हुए आजीवन मानवता की छाती कुचलते रहतें हैं। कुछ साधु प्रकृति के सज्जन पण्डों को छोड़कर अधिकांश पण्डों की जैसी कुछ दशा है, जैसा कुछ आहार, व्यवहार, विहार है वह भी विवेक दृष्टिवालों से छिपा नहीं है। शास्त्रों में आत्म-विषयाबुद्धि को अर्थात आत्मनिष्ठ बुद्धि को पण्डा कहते हैं। पहिले तीर्थो में रहनेवाले आत्मज्ञानी पुरुषों को पण्डा कहते थे, वह बहुत ही निस्पृह, विरक्त वृत्तिवाले, सत्य धर्मापदेशक हुआ करते थे। उनके समागम से तीर्थ जानेवालों को कल्याण का मार्ग मिलता था, और उन साधु सज्जनों का सरल जीवन-निर्वाह गृहस्थों के धन-धान्य से हुआ करता था, परन्तु अब तीर्थ जाने वाले और तीर्थों में रहने वाले मुक्ति के ठेकेदार आदि सभी अपने-अपने कर्तव्य को, लक्ष्य को भूले हुए दीखते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य अपनी दृष्टि से हर एक प्रसंग पर सत्-असत् का निर्णय करें और अपने समीपवर्ती मनुष्यों को समझावें जिससे मूढ़ता, उद्ण्डता, उच्छृन्खलता का नाश हो और विचार-शीलता, सौम्यता, सभ्यता एवं सद्ज्ञान का विकास,

प्रकाश हो।

यथार्थ ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य धर्मवूर्वक स्वार्थी बनेगा, स्वार्थी (अपना अर्थ प्राप्त करनेवाला) ही शक्ति सम्पन्न होने पर भोगवासनाओं से तृप्त होकर या फिर ज्ञान द्वारा उनसे निवृत्त होकर परार्थी बनेगा, और अपने प्राप्त अर्थ के द्वारा परार्थ-पूर्ति रूप सेवा करते हुए, उसमें शुद्ध भाव एवं प्रेम का विकास होगा, तभी वह परार्थी मनुष्य परमार्थी हो सकेगा। परमार्थ ही प्राणी मात्र की परम आवश्यकता है, परमार्थ की प्राप्ति में ही परम शान्ति है, परमान्नद है, परमार्थ के विषय में भक्त हृदय का अपना दृष्टिकोण है:-

हरे चरहिं तापहिं झरे, फरे पसारहिं हाथ।
तुलसी स्वारथ मीत सब, परमारथ रघुनाथ।।

स्वार्थसिद्धि के लिए तो सभी बुद्धिमान अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार प्रयत्न तत्पर हैं, परन्तु परार्थी कौन हैं इसे भी सन्त अपने आराध्य के सम्मुख कहते हैं :-

'सुर नर मुनि सबकी यह रीती। स्वारथ लागि करैं सब प्रीती।
हेतु रहित जुग जग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी।।''

वास्तव में संसार में पर-हितकारी या तो भगवान् हैं, या भगवान् के प्रिय-प्रेमी भक्तजन हैं, अतः परमार्थसिद्धि के लिये इन्हीं की शरण लेना परमार्थी का मुख्य कर्तव्य है। श्री वशिष्ठजी ने यही सम्मति दी है :-

अनन्तं समतानन्दं परमार्थ विदुर्बुघाः।
स येभ्यः प्राप्यते नित्यं ते सेव्याः शास्त्रसाधवः।।

'समता का जो असीम आनन्द है उसी को बुद्धिमान् लोग परमार्थ समझते हैं, जिनको यह प्राप्त है (जो इस परमार्थ का उपदेश दे सकते हैं) उनकी उपासना नित्य करनी चाहिए।'

-- साधु वेश में पथिक

सीतापुर,
भाद्रपद सोमवती अमावस्या

जागृति सन्देश

शुभ अवसर बीते जाते हैं,
तुम बुद्धिमान मानव जागो।
अविवेकी देर लगाते हैं,
तुम बुद्धिमान मानव जागो।।

यह महा दुखद अज्ञान-निशा,
जिसमें सूझती न सत्य-दिशा।
इसको सब समझ न पाते हैं,
तुम बुद्धिमान मानव जागो।।

यह झूठे दुख-सुख के सपने,
जिनको तुम समझ रहे अपने।
सब मन के माने नाते हैं,
तुम बुद्धिमान मानव जागो।।

भोगों से जो कि विरक्त बने,
जो सच्चे प्रभु के भक्त बने।
वे गुरुजन नित्य जगाते हैं,
तुम बुद्धिमान मानव जागो।।

जो उठते मोहनींद तजकर,
चलते शुभ सद्गुण से सजकर।
वे पथिक सुपथ में जाते हैं,
तुम बुद्धिमान मानव जागो।।

जागृति सन्देश

माता नास्ति पिता नास्ति नास्ति बन्धु सहोदरः।
अर्थे नास्ति गृहं नास्ति, तस्माद् जाग्रत जाग्रत।।
आशया बध्यते लोको कर्मणा बहुचिंतया।
आयुः क्षीणं न जानाति तस्माद् जाग्रत जाग्रत।।
कामः क्रोधश्च लोभश्च, देहे तिष्ठन्ति तस्कारा:।
ज्ञानरत्नापहाराय, तस्माद् जाग्रत जाग्रत।।
जन्मदुःखं जरादुःखं जायादुःखं पुनः पुनः।
संसारसागरं दुःखं तस्माद् जाग्रत जाग्रत।।

'इस असार संसार में माता-पिता, सगे भाई, धन-सम्पत्ति और गृह आदि स्थायी सत्य नहीं है, इसलिये जागो! जागो!! यहाँ आशा में बंधे हुए एवं कर्मजाल और चिातओं से धिरे हुए संसार के जीव, अपनी आयु की क्षण-क्षण होने वाली क्षीणता को नहीं जानते, इसलिये जागो! जागो!! इस देह के भीतर घुसे हुए काम, क्रोध, लोभरूपी चोर अमूल्य ज्ञानरत्न का अपहरण कर रहे हैं, इसलिये जागो! जागो!! यहाँ बारम्बार जन्म से लेकर जरावस्था तक स्त्री आदि से संबंध में दुःख ही दुःख है। यह संसार ही दुःखों का सागर है, इसलिये जागो! जागो!!

संत.सद्गुरु की शरण से ही कल्याण होगा

उत्तिष्ठित जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गपथस्तत्कवयों वदंति।।
(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो और महान् पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्वज्ञानी लोग उस पथ को भी वैसा ही दुर्गम बताते हैं।

सन्मार्ग कितना ही दुर्गम क्यों न हो परन्तु सन्त-सदगुरु की शरण में रहने वाले जिज्ञासुओं के लिए उनकी कृपा से अति सुगम हो जाता है।

'संतन ही ते पाइये, राम मिलन को घाट।
सहजै ही खुल जात है, सुन्दर हृदय-कपाट।।'
'दादू से संसार में, ये दो रतन अमोल।
इक सांई एक संतजन, इनका मोल न तोल।।

यदि आप परम शांति अथवा कल्याण की आशा से संत-सद्गुरु के अतिरिक्त इस जगत् में किसी पदाधिकारी राजा महाराजा तथा सम्राट की शरण लेते हैं और उन्हें प्रसन्न कर पाते हैं तो वे आपको संसार की वस्तु के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकते और यह निश्चित सत्य है कि संसार की किसी वस्तु से आपको परम शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

आप स्वयं विचार कर सकते हैं कि संसार में एक से एक बढ़कर सांसारिक सम्पत्ति के धनी हो चुके, लेकिन कोई भी उस सम्पत्ति से शान्ति प्राप्त न कर सका।

यदि आप और आगे बढ़कर प्रकृति की अलौकिक शक्तियों एवं देवी-देवताओं की शरण में जाते हैं और कदाचित् वे प्रसन्न हो जायें तो वे भी कुछ अलौकिक चमत्कारजनक विद्या या विशेष प्रकार के ऐश्वर्य भोग की सामग्री के अतिरिक्त आपको वह धन नहीं दे सकते, जिससे आप परम शन्ति एवं शाश्वत आनन्द लाभ कर सकें।

वास्तव में जिस साधन के द्वारा, जिस विधि के द्वारा, जिस बल के द्वारा परम शान्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है, उसके पूर्ण ज्ञाता और दाता एकमात्र सद्गुरुदेव ही हैं, अतः आप किसी अन्य की शरण न जाकर सद्गुरुदेव की ही शरण लीजिये और उन्हें प्रसन्न कीजिये। सद्गुरुदेव की कृपा से जो परम धन प्राप्त होता वह लोक परलोक में और किसी से भी नहीं मिल सकता। इसीलिये किसी सन्त प्रेमी ने कहा है कि भगवान् को पाने के लिये और कुछ भी उपाय न करके पहिले भगवान् के भक्तों की शरण लीजिये क्योंकि भगवान् के प्रेमी भक्त भगवान् से अवश्य मिला देंगे।

हरि से तू जनि हेत कर, हरिजन से कर हेत।
माल मुलुक हरि देत है, हरिजन हरि ही देत।।

यदि आप परम शान्ति चाहते हैं तो सन्त-सद्गुरु की शरण में आकर, उनसे संसार के पदार्थों की याचना न कीजिये, बल्कि उनकी आज्ञा पालन करते हुए, उनके पास जो दिव्य सम्पत्ति है, उसी को प्राप्त कर सत्यानन्द के योगी हो जाइये।

सन्तसद्गुरु की परम सम्पत्ति के आप तभी अधिकारी हो सकेंगे जब अपने को स्वतंत्रतापूर्वक उनकी शरण में स्थिर रखने की योग्यता प्राप्त कर लेंगे! शरण में स्थिर रहने की योग्यता तभी प्राप्त होगी जब आप अपने मन को विषयासक्ति से मुक्त करके स्वाधीन कर लेंगे। जिसका मन स्वाधीन है वही सन्त-सद्गुरु की शरण में अपने को समर्पण कर सकता है और पूर्ण समर्पण कर समर्पण द्वारा ही मानव, सत्य प्रभु का सर्वभावेन भक्त और संसार से पूर्ण विरक्त होता है। इसलिये ज्ञान-स्वरूप गुरुदेव की शरण में स्थिर होने से ही जीव का परम कल्याण होता है।

सद्गुरु ही जीव के भवरोगहारी चिकित्सक हैं

जिनकी समीपता में अज्ञान अन्धकार का नाश होता है, सद्ज्ञान का प्रकाश होता है, दुःख का सर्वथा ह्रास होता है, मोह के विरुद्ध प्रेम का ही जहाँ विकास होता है और मुक्ति के पथ में चलते हुए, नित्यानन्दधाम में, जिनकी कृपा से, मनुष्य का निवास होता है, वही सच्चिदानन्दमय, ज्ञानस्वरूप गुरुदेव संसार में अज्ञानरूपी रोग को हरण करने वाले हैं।

तप और त्याग से पावन हुए व्यक्तित्व में जब ज्ञानस्वरूप गुरुत्व अभिव्यक्त होता है तब सभ्य मानव उसी व्यक्तित्व को सन्त, महात्मा, मुनि आदि नामों के द्वारा सम्बोधित करते हैं। यद्यपि ज्ञानस्वरूप गुरुदेव नाम-रूप से अतीत चिन्मात्र रूप हैं, किन्तु जिस प्रकार अदृश्य देवता की उपासना किसी स्थूल मन्दिर, मूर्ति के द्वारा सुलभ होती है उसी प्रकार विशेष चिन्हों एवं वेषभूषा से भूषित, त्यागी, वीत-रागी साधु, संत, मुनि आदि नाम रूपों के द्वारा ही सद्गुरु की उपासना सुलभ होती है।

संसार में ऐसा कौन प्राणी है, जिसे अज्ञानरूपी रोग न लगा हो और आधि, व्याधि, उपाधि-रूप, त्रिदोष जिसे न घेरे हुए हों! सत्संगी पुरुषों को छोड़कर प्रायः सभी प्राणी इस महान् रोग से ग्रस्त हैं। असत्संग से ही इसकी

उत्पत्ति होती है। सांसारिक भोग सुखों की भूख और कामना की प्यास ही इस रोग के लक्षण हैं। मोह, लोभ, क्रोध, मद, मत्सर एवं ईर्ष्या, द्वेष ही इस रोग के पुष्टिकारी कुपथ्य हैं। संसार के ऐसे कठिनतम रोग निवारण करने वाले सद्गुरुदेव ही एक वैद्य हैं। उनका सद्ज्ञान ही इस अज्ञानरूपी रोग को दूर करनेवाली महौषधि है। सद्गुरुदेव की आज्ञानुसार शुभ कर्म एवं शुभ भाव और पवित्र विचार ही इस महौषधि का सेवन करने के लिये अनुपान हैं; रोगी में शक्ति लाने के लिये निष्काम सेवा ही सत्पथ्य है। इस पथ्य को पचाने के लिये त्याग ही दैनिक व्यायाम है।

संसार में सद्गुरु का संगी ही स्वस्थ है; संसार में सफलता पूर्वक कार्य करने के लिये वह सिद्धहस्त है। निष्काम प्रेमी होना स्वस्थ पुरुष का काम है और सहज समाधि में ही उसका विश्राम है। जगत् प्रपञ्च से स्वस्थ पुरुष ही सत्य के ध्यान में अचल है, क्योंकि उसमें सद्गुरु के ज्ञान का बल है। इसी से स्वस्थ पुरुष श्रीमान् है और निर्मल है। स्वस्थ हुए बिना जीवन व्यर्थ है। स्वस्थ पुरुष ही सदा समर्थ है।

जिनकी कृपा से स्वस्थ पुरुष का सर्वत्र शान्तिदायी सर्वोत्कृष्ट अधिकार है, उन स्वास्थ्य के दाता सद्गुरु को नित्य नमस्कार है। सद्गुरुदेव के हाथों में गया हुआ कुपात्र जीवन भी सुपात्र बन जाता है। अज्ञानरूपी रोग से ग्रसा हुआ, आधिव्याधि, उपाधि में फँसा हुआ, और काम, क्रोधादि विकारों से कसा हुआ मानव सद्गुरु की शरण पाकर, समस्त बन्धनों तथा दुखों से मुक्त होता है, और परमानन्द स्वरूप सत्य से संयुक्त होता है। संसार में समस्त प्राणियों में सच्चे हितैषी शक्तिमान महात्मा ही हैं और वही समस्त संसार को कल्याण का मार्ग दिखाते रहते हैं। वही ज्ञात या अज्ञात रूप से, सद्ज्ञान प्रकाश द्वारा सोये हुओं को जगाते हैं, रोने वालों को हँसाते हैं। खोए हुए को मिलाते हैं। वह किसी की भी करुणापूर्ण पुकार सुनकर दौड़े चले जाते हैं। पतित को पावन बनाते हैं और जो कोई भी शरणागत हो उसे ही अपनाते हैं, इसी से वे दीनबन्धु, अधमोद्धारक कहलाते हैं।

तीरथ न्हाये एक फल, सन्त मिले फल चारि।
सद्गुरु मिले अनेक फल, कहत कबीर विचारि।।

सद्गुरुदेव की शरण में आ जाने का सौभाग्य जिसको प्राप्त हो गया है, उसके लिये फिर कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

मनुष्य की चिन्मात्रस्वरूप अन्तरात्मा में अनेकों प्रकार की उच्चतम सुन्दर शक्तियाँ सुप्त रूप में छिपी पड़ी हैं। उनकी जागृति, अथवा उनका क्रमपूर्वक विकास सद्गुरु-प्रदत्त युक्तियों के द्वारा ही होता है। इसका अनुभव करते हुए रामचरितमानस के शब्द याद आ रहे हैं, यथा :-

गुरु बिन भवनिधि तरे न कोई, जो विरंचि शंकर सम होई।

※ ※ ※

नहि दरिद्रसम दुख जगमाहीं, सन्तमिलन सम सुख कछुनाहीं।

सद्गुरुदेव की महिमा का अगाध समुद्र तो सभी भावुक बुद्धिमान् देखते ही रहते हैं, तब मैं उस महिमा-सिन्धु के दो-चार बिन्दु किसी को दिखाकर क्या संतोष दे सकता हूँ?क्योंकि वह तो प्रत्येक जिज्ञासु संत शिष्य के लिये अनुभवगम्य तत्त्व है।

'कबीर यह तन जायगा, कवने मारग लाय।
कै संगत करि साधु की, कै हरि के गुन गाय।।'

संत सत्पुरुष की भक्ति उदय होने पर भोगों से विरक्ति होना सुगम हैं क्योंकि संतो के प्रति प्रेमभाव तभी जाग्रत् होता है जब सदाचरण की ही जींवन में प्रधानता होती है और इसी से सद्गुणों की वृद्धि होती है।

सदाचरण एवं सद्गुणों की उपासना करना सद्गुरुदेव की मुख्य आज्ञा है, इसी से अन्तःकरण निर्मल होता है। तभी सुख-स्वार्थ के प्रति राग का त्याग होता है।

संत-सद्गुरुदेव की समीपता में पहुँचकर यदि शिष्य में असत् संगियों की तरह सांसारिक सुख, दुख, लोभ, मोह, क्रोध आदि मनोविकार बने रहे तो सत्संग का फल ही क्या मिला; अतः संत-सद्गुरु के समागम का प्रथम फल तो यही है कि मोह का त्याग हो; क्योंकि मोह के त्याग हुए बिना सत्-पथ में चल ही नहीं सकते। मोह नष्ट होने पर भक्ति के सद्भाव दृढ़ होते हैं; जिसका मोह दूर नहीं हुआ उसको या तो संत-सद्गुरु नहीं मिले, या फिर उसने सच्ची जिज्ञासा से सद्गुरु का समागम ही नहीं किया। जिसने सद्गुरु का सत्संग किया है वह संसार का संगी नही रह गया। जिसका मन ऐहिक भोगों में रस ले रहा है उसे तो संसार में ही रहना होगा। भोगसुखों की कामना से विषयों मे राग दृढ़ होता है और राग के कारण ही द्वेष चरितार्थ होता है। जहाँ द्वेष है वहीं क्रोध उत्पन्न होता है और जहाँ क्रोध का स्थान है वहीं अहंकार बहुत

प्रबल होता है।

कोटि करम लागे रहैं, एक क्रोध की लार।
किया कराया सब गया, जब आया अहंकार।।

जब विषयभोग-जनित सुख-कामना का त्याग होगा तभी मोह और लोभ के लिये स्थान न रह जायगा; जहाँ लोभ-मोह न होंगे, वहाँ क्रोध भी न आयेगा। इस प्रकार विकार-रहित होने पर ही कोई पावन प्रेम के सन्मार्ग में चल सकता है।

सद्गुरु का संगी और उसका कर्तव्य

सद्गुरु तत्व का यथार्थ ज्ञान, सद्गुरु-कृपा से ही होता है। ऐसे सर्वसाधारण मनुष्य जो प्रपञ्चासक्त हैं, अस्तव्यस्त हैं, अज्ञान रूपी रोग से त्रस्त हैं, उन्हें अपनी संकीर्ण क्षुद्र बुद्धि के द्वारा सद्गुरु तत्व एवं संत, महात्मा, भक्त-विरक्त साधु, सत्पुरुष की महानता के नापने-तौलने को दुस्साहस कदापि न करना चाहिए।

जिन्होंने उस महान् की महिमा हो जाना है वह अपनी बुद्धिमत्ता का अभिमान छोड़कर यही स्तुति करते हैं कि 'सोइ जाने जिहि देहु जनाई' और जान लेने का महान् फल भी प्रत्यक्ष बता देते हैं, कि 'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई'। सन्त महात्मा, सत्पुरुष के महान महिमायुक्त, गुरुत्व का दर्शन, निश्छल भाव से अति निकटवर्ती होने पर ही होता है, क्योंकि निकटवर्तिता के कारण ही महान पुरुषों के आचरण के पीछे, अन्तरंग भाव का स्पष्ट ज्ञान होता है और उनके अन्तरंग सद्भावों के पीछे ही अन्तःकरण की विशालता में महान् ज्ञान का गुरुत्व प्रतिष्ठित है, जिसे कोई भी भक्त, जिज्ञासु सरलता, गम्भीरता एवं स्थिरता की दृष्टि से देख सकता है। किसी भी भक्तजिज्ञासु में सरलता, गम्भीरता एवं स्थिरता केवल सन्त-सद्गुरु की आज्ञानुगामिता से ही सुसम्पन्न होती है। जो स्वेच्छाचारी होकर रहते हैं, वह तो सदा पतनोन्मुख ही दिखाई देते हैं।

स्वच्छन्द होकर चलनेवालों को यह बात ध्यान में रख लेनी चाहिये कि स्वच्छन्द तत्व का योग लाभ कर लेने पर ही कोई स्वच्छन्द होकर चल सकता है। योगी सन्त, सत्पुरुष से मिले बिना, जो स्वच्छन्द चेष्टा करता है उसका उत्थान नहीं हो सकता। इसे स्वेच्छाचारितारूपी दोष के कारण ही अनेकों

जिज्ञासु, सन्त सद्गुरु के संग में आते हुए भी उनका सदुपदेश नहीं समझ पाते। यदि कोई समझते भी हैं तो तद्नुसार आचरण में नहीं ला पाते। कदाचित् कोई आचरण में भी बर्तते हैं तो सत्य लक्ष्य को भूल कर इधर-उधर भटक जाते हैं, क्योंकि सद्गुरु की आज्ञापालन में सतत् जागरुक भाव से तत्पर नहीं रहते। सद्गुरु की समीपता में भी जिज्ञासु योग्यता के अनुसार ही लाभ उठा पाते हैं।

जिन जैसा सतसंग किया, वैसा ही फल लीन।
कदली सीप भुजंग मुख, एक बूंद गुण तीन।।

जो भक्त सद्गुरुदेव की आज्ञा में कटिबद्ध तत्पर होकर चलते हैं, वही उनके सदुपदेशों को सावधानतया सुनते हैं, जो सुनते हैं, वही यथार्थरूप में मनन करते हैं, जो मनन करते हैं, वही चिन्तन में अभ्यस्त होते हैं और जहाँ चिन्तन का अभ्यास दृढ़ है, वहीं निरंतर ध्यान सिद्ध दिखाई देता है। जहाँ ध्यान है, वहीं ध्येय से तन्मयता सुलभ होती है, वहीं पर पूर्णयोग सिद्ध होता है। जो सदगुरू का संगी है, वही असत् संगाभिमान से रहित होता है और सत्स्वरूप का ज्ञानी होता हैं ऐसा ज्ञानी अपने नित्य, सत्य सम्बन्ध को जानता है, वह उसी के विषय में कहता है, उसी के विषय में सुनता है, केवल उसी को सर्वत्र देखता है। वह उसके विरूद्ध, पर-पदार्थ को अपना नहीं मानता, पर-पदार्थ की चर्चा नहीं करता, पर-पदार्थ के विषय में नहीं सुनता, और पर-पदार्थ में दृष्टि भी नहीं रखता। सन्त का संगी हठी, दुराग्रही नहीं होता, बल्कि सरल और विनयी होता है। सन्त का संगी आलसी-प्रमादी नहीं होता, वरन् कर्तव्यपरायण और यथार्थदर्शी होता है। सन्त का संगी चन्चल, अशक्त नहीं होता, प्रत्युत स्थिर और पुरुषार्थी होता है।

सन्त का संगी उत्तेजित एवं अधीर नहीं होता, बल्कि वह गम्भीर और धैर्यवान् होता है। सन्त का संगी रागीद्वेषी नहीं होता, वरन् त्यागी और प्रेमी होता है। सन्त का संगी बद्ध तथा दुःखी नहीं होता क्योंकि वह मुक्त और आनन्दमय परमतत्व आत्मा का अनुभव करता है। वह विचारहित, मूर्खों का स्वामी न बनकर सत्पुरुषों का सेवक होकर रहता है। इस प्रकार सन्त-सत्पुरूषों की भक्ति में वास्तविक गुरुत्व का प्रकाश होता है, संसार की भोग-कामनाओं का नाश होता है और हृदय में स्थायी शान्ति का निवास होता है। वही अपने सर्वस्व का सच्चा स्वामी होता है, जो सन्त-सद्गुरु को अपना सर्वस्व समर्पण करके उन्हीं का आज्ञानुगामी होता है। परमार्थ के पथ में चलते

हुए सन्त-संगी पथिक के लिये सद्गुरुदेव की आज्ञा का आराधना ही धर्मयुक्त तप है। आज्ञा की आराधना करते रहने में ही पथिक की सद्गति, परमगति और मुक्ति होती है। जिसकी श्रद्धा शुद्ध-सात्विक होती है, वही आज्ञा का पालन कर सकता है। सन्त-सद्गुरु की भक्ति पूर्ण होने पर परमात्मा की भक्ति अनायास ही सिद्ध हो जाती है।

जिसे परम शान्तिप्रद ज्ञान एवं परमानन्द प्राप्ति की अभिलाषा हो, उसे सन्त-सद्गुरु की आज्ञानुसार ही चलना चाहिये। अपनी इच्छा के अनुसार चलते हुए तो जीव को न जाने कितने जन्म अज्ञान दशा में भटकते बीत गए, परन्तु अनन्त शान्ति न मिली।

सन्त-सद्गुरु की समीपता में सत्संगरूपी भोजन मिलते रहने से आध्यात्मिक जीवन उसी प्रकार शक्तिसम्पन्न होता है जिस प्रकार अन्न-जल आदि के भोजन मिलने से स्थूल शरीर पुष्ट होता है। मनुष्य में जब आध्यात्मिक क्षेत्र बलवान् होता है तभी इन्द्रियदमन एवं मनोनिरोध में सफल होते हुए परमार्थ के पथ में उसकी प्रगति होती है। परमार्थ का ज्ञान और तद्नुसार प्रीति, प्रतीति अथवा भक्ति होने के लिये सद्गुरुदेव का संग ही सर्वोत्कृष्ट साधन है।

इस परिवर्तनशील, विनाशी जगत् में सद्वस्तु का बोध प्राप्त करना ही प्रत्येक, प्राणी का परमार्थ है। यद्यपि वह अति सुगम है, सरल है, और उसकी प्राप्ति सर्वत्र हो सकती है, बल्कि हर समय वह प्राप्त ही है, फिर भी उसके परिचायक ज्ञान स्वरूप गुरुदेव जब तक नहीं मिलते तब तक उसका बोध होना अति कठिन हैं मुनष्य इस संसार में परम शान्ति तथा सुख प्राप्त करने के लिये और दुःखद बन्धनों से मुक्त होने के लिये अनन्त कर्मों को करते हुए जीवन व्यतीत कर रहा है, परन्तु सद्गुरुदेव की आज्ञा-आराधनरूपी एक कर्म का आश्रय लिये बिना न तो परम शान्ति ही प्राप्त कर पाता है और न दुःखद बन्धनों से ही छुटकारा होता है, बल्कि सद्गुरु- आज्ञा- आराधनरूप एक कर्म को किये बिना अनन्त कर्म भोगने के लिये बढ़ता जाता है। जिस एक कर्म के करने से अनन्त कर्मों के बन्धन अनायास ही खुल जाते हैं, वह एक कर्म यही है कि सद्गुरुदेव की आज्ञा से ही करणीय कर्मों को पूर्ण किया जाय।

परम विनय-भाव के साथ सद्गुरु की आज्ञाओं का पालन करने से ही जिज्ञासु के मन में छिपे हुए स्वेच्छाचारितारूपी भयानक दोष की निवृत्ति होती है।

जीव कब जागृत होता है

अज्ञानान्धकार में मोहनिद्रा के वशीभूत मानव तभी जागते हैं जब कालान्तर में ज्ञानालोक द्वारा अपनी बुद्धि से सुख की पूर्ति का अनुभव करते हैं। इसके पहिले सुख-स्वप्नाभिभूत मानव तब जागते हैं जब अचानक ही कोई असह्य दुःखाघात होता है। इसके भी पहिले कोई-कोई भाग्यवान् सुसंस्कारी मानव सन्तसद्गुरुजनों के हृदयस्पर्शी सत्य-ज्ञानगान को सुनकर ही जाग उठते हैं।

कोई ऐसे भी पाशव प्रकृति-प्रधान मानव हैं कि सुखद इच्छाओं की पूर्ति होते रहने पर भी नहीं जागृत होते; अनेकों प्रकार के दुःखाघातों के होते रहने पर भी नहीं जागृत होते; सन्त-सद्गुरु के उपदेशों से भी नहीं जागृत होते। ऐसे मनुष्यों को उस समय तक मोहनींद में सुख-दुःख के स्वप्न देखते हुए समय बिताना पड़ता है, जब तक भयानक दुःख का कठोराघात न हो, क्योंकि पूर्ण दुःखाघात से ही मानव विचार-प्रकाश में जागृत होता है। विचार-प्रकाश में जी जीव की ऐसी दृष्टि खुलती है कि जिसमें असत्संग का दुष्परिणाम दिखाई देता है, तभी सत्संग की जिज्ञासा उदय होती है, क्योंकि सत्संग से ही सद्गुणों का विकास होता है।

वास्तव में विशेष रूप से जागृति तो सन्त-सद्गुरु के सुयोग से ही होती है; यदि यह सुयोग सुलभ न हो, तो करोड़ों वर्ष जीव अज्ञानान्धकार में जीवन व्यतीत करता रहता है लेकिन न तो सत्यासत्य का ज्ञान ही होता है और न आत्मा के दिव्य गुणों का विकास ही होता है।

जागृत पुरुष के लक्षण

जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा।

वास्तव में वही जागृत पुरुष हैं जो संसार के नश्वर सुख-भोग से विरक्त हो रहे हैं। वही जागृत पुरुष हैं, जिनके मन से शोक-मोह नष्ट हो गए हैं, जिनका अन्तःकरण पवित्र हो गया है, जहाँ संसार के किसी पदार्थ के प्रति राग नहीं रह गया है। वह भी जागृत मनुष्य हैं, जो बाल्यकाल अथवा युवावस्था के प्रारम्भ से ही सत्कर्म, सद्भाव, सद्ज्ञान द्वारा अपने परम लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं। ऐसे जागृत पुरुष स्वल्पायु में ही वृद्ध है, बल्कि वे वृद्ध नहीं है जो कि सौ वर्ष जीते हुए भी सत्यज्ञान से विमुख रहकर मोहनींद में

ही जीवन को निरर्थक खो रहे हैं। जो सद्ज्ञान से पूर्ण है वही जागृत पुरुष हैं।

वह भी जागृत पुरुष हैं, जो यम, नियम, संयमादि के द्वारा प्रारम्भिक जीवन से ही सावधान होकर इन्द्रियों समेत मन को वश में करके इन सबके सच्चे स्वामी हो रहे हैं, जो परमार्थ-सिद्धि के लिये सन्त-सद्गुरु की शरण में रहकर निरन्तर उनके ही निर्देशानुसार जीवन-यात्रा कर रहे हैं। ऐसे श्रद्धालु पुरुषों को निःसन्देह सत्य का बोध होगा और वह अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करेंगे।

जो जागृत पुरुष हैं उन्हीं को दिखाई पड़ता है कि इस संसार में जीवन का समय बहुत ही कम है और कार्य बहुत बड़ा करना है, शक्ति अति स्वल्प और सीमित है परन्तु यात्रा बहुत लम्बी पूरी करनी है। उन्हें यह भी दिखाई देता है कि प्रत्येक दुःख अपने ही दोषों के कारण आता है, प्रत्येक बन्धन अपने ही बनाये हुए हैं और उन बन्धनों से मुक्त होना अपने ही अधिकार में है।

जो जागृत पुरुष हैं, उन्हीं को यह ज्ञान होता है कि जो शुभ कार्य अपने ही अज्ञान के कारण, अपने ही आलस्य-प्रमाद के कारण सैकड़ों जन्मों से पूरा नहीं हो सका, वह परम शान्ति एवं मुक्ति का महान् कार्य अपने सद्ज्ञान के बल से, अपने ही प्रयत्न से एवं शक्ति और समय के सदुपयोग से कुछ ही वर्षों के भीतर पूर्ण हो सकता है।

जो जागृत पुरुष है, उन्हीं की समझ में यह आता है कि संसार का सुख मिथ्या है, माना हुआ है और अस्थिर है, वही यह सोचते हैं कि इस थोड़े से जीवन के समय में, यदि किसी प्रकार न्यूनाधिक रूप से यश की प्राप्ति हो गई, या मानव-समाज की ओर से कुछ विशेष सम्मान या उच्च्व पदाधिकार मिल गया, अथवा यहाँ पर अधिकाधिक ऐश्वर्य, भोग-सुख वैभव ही प्राप्त हो गये, तो कब तक यह जीवन का साथ देंगे?क्योंकि जगत् में तो कुछ भी एकरस और स्थिर नहीं है, तब इन सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के अगणित सम्बन्ध बढ़ाना, अर्हता, ममता से आबद्ध होना मूर्खता ही है। यह विचार करके ही जागृत पुरुष त्याग का पक्ष लेते हैं।

जागृत पुरुष के ही उद्गार है किः-

झूठे सुख को सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।।

जागृत पुरुष ही देख पाते हैं कि संसार में अज्ञान के कारण सुख की

लिप्सावश प्राणी किस प्रकार अनेकों तरह के दुःख भोगते रहते हैं। यह सभी, मोह से मोहित हुए मानव, अधिक से अधिक दिन जीने की तो इच्छा करते हैं, परन्तु जीवन को सुन्दर बनाने की विधि नहीं जानते। ऐसी मूढ़-बुद्धिवाले मनुष्य संसार में विविध पदार्थों के तथा देह के सुखों और सांसरिक सम्बन्धियों के बाह्य रूप को ही देखकर मुग्ध होते हैं, लेकिन उनके अन्तर की वास्तविकता को नही जानते।

जागृत पुरुष किसी भी वस्तु के बाह्य रूप को देखने के साथ ही, उसकी अन्तरंग तथ्य को भी जान लेते हैं। जागृत पुरुष अपने को देखते हैं, अपने आगे पीछे की वस्तुओं को देखते हैं, अपने गन्तव्य लक्ष्य को देखते हैं और लक्ष्यप्राप्ति के पथ को भी देखते हैं, इस प्रकार यथार्थ देखने के कारण ही वह सावधान होकर यात्रा करते हैं और सन्मार्ग से चलते हुए लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

परम शांति का साधन

दोषों के त्याग से ही परम शान्ति की प्राप्ति सुलभ है, सरल है। सन्त-सद्गुरु की आज्ञानुसार चलने से ही कोई परमार्थ का पथिक त्यागी हो सकता है। त्यागी होकर ही कोई सत्य का सच्चा उपासक हो सकता है।

सद्गुरु-कृपा से सत्य तत्व का ज्ञान होने पर ही परम प्रेम का विकास होता है, तभी परमार्थी को परम शान्ति प्राप्त होती है। संत-सद्गुरु की समीपता में यथार्थ विचार जाग्रत होता है, विचारवान् को जगत्-प्रपंच्च से विराग होता है। विरागी पुरुष ही त्याग के द्वारा परमज्ञानी और परमप्रेमी होकर परम शान्ति को प्राप्त करता है। आप त्यागियों, ज्ञानी सत्पुरुषों एवं निर्मल प्रेमियों को देखकर ही कल्याण हो जाने की कल्पना न कीजिये बल्कि उनके त्याग, ज्ञान एवं प्रेम के परम भक्त हो जाइये, तभी आप स्वयं पूर्ण त्यागी, पूर्ण ज्ञानी तथा पूर्ण प्रेमी होकर परम शान्ति प्राप्त करेंगे।

आप उस आदर्श गम्भीरता को धारण कीजिये जो उच्चतम ज्ञान के साथ रहती है। उसी के बल से हृदय को हिला देने वाली कठिनाइयों एवं आपत्तियों के सामने मुस्कराते हुए आप समस्थित और शान्त रह सकेंगे।

परमार्थ-पथ में सभी मनुष्य क्यों नहीं चल पाते

प्रायः अज्ञानवश मोह-मुग्ध मानव जगत्-प्रपंञ्च के कोलाहल से इतने

बधिर हो रहे हैं कि उनके कानों में ज्ञानी सत्पुरुषों की सत्य वाणी सुनाई ही नहीं देती। उनके नेत्र जगत्-दृश्य को देखते-देखते इस प्रकार के बन गये हैं कि सन्त सत्पुरुष के पवित्र रूप को देख ही नहीं पाते।

मोहान्ध दृष्टिवाले मनुष्य देहादिक जगत्-पदार्थों की ममतासक्ति में इस प्रकार जकड़े हुए हैं और सांसारिक सुखों के भोगी होने के कारण इतने निर्बल तथा चंचल मनवाले हो रहे हैं कि परमार्थ-पथ पर स्थिर ही नहीं हो पाते।

जिस प्रकार शरीर के द्वारा होने वाले कार्यों की पूर्ति के लिये स्थूल शरीर का बलवान् होना आवश्यक है और शारीरिक बल की वृद्धि, स्थूल भोजन मिलते रहने से होती है, उसी प्रकार आध्यात्मिक शरीर के द्वारा होने वाले पारमार्थिक कार्यों की सिद्धि के लिये आध्यात्मिक जीवन का बलवान् रहना अत्यावश्यक है, और इस जीवन की बल वृद्धि के लिये सन्तों के द्वारा मिलने वाले सत्संगरूपी भोजन की आवश्यकता है।

जिस प्रकार अनुकूल आहार न मिलने के कारण स्थूल देह दुर्बल अथवा अशक्त हो जाती है और फिर काम नहीं दे सकती, उसी प्रकार सन्त सत्संगरूपी आहार न मिलने के कारण, आध्यात्मिक जीवन निर्बल रहता है। इसी कारण से निष्कपट साधक की भी परमार्थ-पथ में प्रगति नहीं हो पाती।

शरणागति से परम पूर्णता

परमार्थ के पथ में आ जानेवाले भाग्यावानों! अरे अब भी उन भाग्यहीनों की ही भांति देश, काल समाज एवं परिस्थितियों की ओट लेते हुए अपने भाग्य को ही कोसते रहोगे?सावधान होकर विचार दृष्टि से अपने आगे करणीय कर्तव्य को देखो। आपको त्याग में कहीं परतन्त्रता नहीं है, ज्ञान की प्राप्ति में कोई शक्ति बाधक नहीं है, केवल एक ही कमी है, और वह आपकी ओर से है, उस एक कमी की पूर्ति हो जाने पर सब कुछ सरल है। वह कमी है सच्ची शरणागति की, अतः इसी कमी की पूर्ति कीजिये। आप त्यागी होना चाहते हैं तो वीत राग संत की शरण में स्थिर हो रहिये, आपमें अनायास ही त्याग भाव स्थिर हो जायगा। आप ज्ञानी होना चाहते हैं तो ज्ञान स्वरूप गुरुदेव के प्रति शुद्ध सात्विक श्रद्धा अटूट भाव से दृढ़ रखिये, आपमें अनायास ही ज्ञान का प्रकाश आ जाएगा।

आप परम प्रेमी होना चाहते हैं, तो प्रेमस्वरूप भगवान् की भक्ति में

अपने हृदय को अभिव्यक्त होने दीजिये, आपमें अनायास ही परम प्रेम का विकास हो जाएगा।

कदाचित् शरण से त्याग, ज्ञान एवं प्रेम की पूर्णता न हो तो किसी भी बाह्य परिस्थिति को दोष न दीजिये बल्कि अपने भीतर खोज कीजिये, कहीं शारणागति में त्रुटि रह गई है।

जब किसी विद्यार्थी का हिसाब नहीं ठीक होता, जब किसी कोषाध्यक्ष की रोकड़ नहीं मिलती तब वह कभी यह कहते हुए शोक नहीं करता कि इस समय घोर कलिकाल है, यह संसार में अब पाप बहुत बढ़ गया है अतः कोई काम पूरे नही उतरते, वह विद्यार्थी या कोषाध्यक्ष हिसाब अथवा रोकड़ मिल जाने के लिये यज्ञ, जप, तप, व्रतादि करने भी नही बैठता वरन् पुनः पुनः अपने हिसाब को ही देखता है। उसे दृढ़ विश्वास होता है कि कहीं भूल रह गई है।

इसी प्रकार जहाँ परमार्थ के पथ पर चलते हुए त्याग, तप ज्ञान एवं प्रेम की कमी के कारण रुकावट हो रही हो वहाँ आप देश काल समाज एवं परिस्थितियों को दोष देते हुए मन न समझाइए बल्कि अपनी भूल को खोज निकालिये और उसे दूर कीजिए।

जिस प्रकार हो सके शरणागति भाव को पूर्ण कीजिये तभी परमार्थ के पथ में त्याग के द्वारा सद्गति, ज्ञान के द्वारा परम गति, प्रेम के द्वारा पूर्ण शान्ति और परम बोध के द्वारा परम मुक्ति प्राप्त होगी। ध्यान रहे तुम्हें शरण उसी की होना है जो सत्य हो, सर्व सामर्थ्यवान् ही, परम स्वतंत्र हो।

संत-संग का प्रभाव सभी पर क्यों नहीं पड़ता

जिस प्रकार सूखी लकड़ी अग्नि में शीघ्रता से जलती है, लेकिन गीली लकड़ी बहुत देर मे सूखकर फिर जलती है, उसी प्रकार निर्दोष जीवन में संत-संग का तुरन्त प्रभाव पड़ता है, लेकिन सदोष, पापपंकिल जीवन में क्रमशः सुधार होते-होते कुछ समय लग जाता है।

सत्संग का समुचित प्रभाव न पड़ने का प्रधान कारण है मनुष्य का स्वेच्छाचारी होना। स्वेच्छाचारित अथवा स्वच्छन्दता- रूपी महान् दोष के कारण मनुष्य सद्गुरु के समीप पहुँचकर भी वास्तविक लाभ नहीं उठा पाता।

सांसारिक जीवन में अपने से पीछेवालों को देखिए

अपने भौतिक जीवन में दुःख-सुखादि प्रारब्ध भोगों को भोगते हुए सदा अपने पीछेवालों को देखिए। ऐसा करने से आपको अपनी स्थिति पर संतोष रहेगा, क्योंकि जब आप अपने नीचेवालों को देखेंगे तो आपसे भी अधिक दुखी दिखाई देंगे। उस समय आप यह सोचकर अपनी किसी भी प्रकार की परिस्थिति पर संतोष करेंगे कि इनसे हम फिर भी अच्छी दशा में हैं। यदि अपने से आगे बढ़े हुए भोगियों को देखेंगे तो आपको अपनी अच्छी से अच्छी स्थिति पर भी असंतोष ही होता रहेगा क्योंकि आपके पास जो कुछ भी होगा वह अपने से अधिक सम्पन्न लोगों को देखकर सब तुच्छ प्रतीत होगा, ऐसी दशा में आप अपने भाग्य को ही कोसते रहेंगे। संसार में चाहे कितने ही ऊँचे वैभव भोग की वस्तुएँ आप प्राप्त कर लें फिर भी तब तक सन्तुष्ट नहीं हो सकते जब तक यथार्थ विवेक के द्वारा तृष्णा का त्याग न कर लेवें।

परमार्थ-पथ में अपने अग्रगामियों को देखिए

परमार्थ-पथ में आप सदा अपने से आगे बढ़े हुए पथिकों को देखिये, इससे आपको अपनी दशा पर जितना ही असन्तोष होगा आप उतनी ही अच्छी उन्नति कर सकेंगे, लेकिन जब अपने से पीछेवालों को देखेंगे तब अपनी साधारण बातों पर ही आपको गर्व हो जायेगा, अर्थात् कुछ कीर्तन, जप, ध्यान, ज्ञान आदि का अभ्यास करते हुए कुछ न करनेवालों को देखकर आप अपने को श्रेष्ठ भक्त, ज्ञानी, प्रेमी समझ लेंगे और उतनें ही से सन्तोष करते बीच में ही रुक जायेंगे जब आप परमार्थ के पथ में अपने से आगे बढ़े हुए आदर्श, निर्द्वन्द्व, निस्पृह और नित्य तृप्त स्थिति को देखेंगे तभी अपनी अतृप्त, अकिंचन एवं बद्धदशा पर विचार करते हुए परम लक्ष्य की ओर गतिशील होंगे।

योगसिद्धि के लिये अपने भीतर देखिये

यदि आपमें अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प है तो प्रगति अवश्य होगी।

विनय भाव है तो सद्गुणों का विकास अवश्य होगा।

दूसरों की सेवा करने की सच्ची निःस्वार्थ धुन है तो हृदय अवश्य शुद्ध हो

जायगा।

दृढ़ विश्वास है तो साक्षात्कार अवश्य होगा।

यदि सच्चा वैराग्य है तो ज्ञान निःसन्देह होगा।

यदि अटूट धैर्य है तो शान्ति अवश्य मिलेगी।

यदि सतत प्रयत्न है तो विध्न-बाधायें अवश्य नष्ट होंगी।

यदि सच्चा समर्पण है तो भक्ति अवश्य आ जायगी।

यदि पूर्ण निर्भरता है तो निरन्तर कृपा का अनुभव अवश्य होगा।

यदि दृढ़ परमात्म-चिन्तन है तो संसार का चिन्तन अवश्य मिट जायगा।

यदि सद्गुरु का दृढ़ आश्रय है तो बोध अवश्य होगा।

जहाँ सत्य का बोध होगा वहाँ समता अवश्य दृढ़ होगी।

जहाँ पूर्ण प्रेम विकसित होगा वहाँ पूर्णानन्द की स्थिति अवश्य सुलभ होगी।

सन्मार्ग में बढ़कर पीछे न लौटिए

यदि आप जगत्-प्रपंच से दुःखी होकर परम शान्ति की आशा से परमार्थ के पथ में कुछ भी दूर चले गये हैं और सौभाग्य से यदि सन्त-गुरुदेव के प्रति श्रद्धाभाव विकसित हो चला है तो एक कदम भी पीछे न लौटिये। किसी भी प्रकार से अपने श्रद्धाभाव में कमी न आने दीजिये। दृढ़ विश्वास, अटूट धैर्य सतत प्रयत्न और पूर्ण निर्भरता के सहारे सद्ज्ञान प्रकाश की ओर बढ़ते चलिये।

ध्यान देकर देखिये! अज्ञानान्धकार में भटकते जीवन में संत सद्गुरुदेव का संग मिला और कुछ सद्गुण सद्भाव विकसित होने लग गये, यदि अब यहाँ किसी कारणवश मन स्थिर न हो सके तो वह पुनः उसी प्रपन्चमय संसार में ही तो जायगा, जहाँ से दुःखी होकर सत्संग की शरण ली थी, और पुनः कभी न कभी परमार्थ के ही पथ में आने पर शान्ति मिलेगी, अतः इधर बढ़कर किसी भी कारण से सत्संग का आश्रय न छोड़िये, कभी भी घबराकर या निराश होकर पीछे लौटने की भूल न कीजिये, वरन् विश्वास के द्वारा श्रद्धाभाव को बढ़ने दीजिये और श्रद्धा के द्वारा ज्ञान-प्रकाश में आइये। इसी क्रम में आप ज्ञान के द्वारा मर्म के अनन्त सौंदर्य में परमानन्द स्वरूप का दिव्य दर्शन कर सकेंगे।

एक चिंता से बंधन और एक चिंता से मुक्ति

आप जितनी चिंता सांसरिक सुखभोगों की प्राप्ति के लिए करते हैं, जितनी चिंता देहादिक पदार्थों के लिए करते हैं, जितनी चिंता अपने निकट संबंधियों में सुख निर्भर करते हुए पुत्र-कलत्रादि के शरीरों की करते हैं उससे लाखों गुना अधिक चिन्ता अपने बन्धनों से मुक्ति के लिए कीजिये, दुःखों की निवृत्ति के लिए कीजिये, परमानन्द की प्राप्ति के लिए कीजिये।

पर की चिन्ता में प्रवृत्ति बढ़ती है, आत्म चिन्ता में निवृत्ति आती है। प्रवृत्ति संसार की ओर ले जाती है और निवृत्ति सत्य की ओर ले जाती है। प्रवृत्ति के पथ से संसार में दुःख सुख प्राप्त होता है और निवृत्ति के पथ से सत्य के नित्य योग में आनन्द प्राप्त होता है।

देह, इन्द्रिय, मन और जगत् के संबंध ही पर-पदार्थ हैं, इनसे परे चिन्मात्र तत्व ही अपना सब कुछ है, वही अपना सत्स्वरूप है उसी का चिन्तन, ध्यान करना प्राणी का परम कर्तव्य है।

अपने स्वरूप को भूलकर पर पदार्थ की चिन्ता लेकर आपको संसार की शरण लेनी पड़ती है, लेकिन इसके विरुद्ध आत्म चिन्तन करने से आपको अपने ही अन्तरात्मा की शरण लेनी होती है। संसार की शरण में संसार के क्षणभंगुर सुखों की प्राप्ति होती है, लेकिन इधर अन्तरात्मा की शरण लेने से परमानन्द स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है। सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए भौतिक जीवन का बलवान होना आवश्यक है, लेकिन परमात्मा की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक जीवन का सबल होना आवश्यक है।

सबके परम आश्रय परमात्मा ही हैं

संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके अन्तिम आधार परमात्मा न हों। परमात्मा के अतिरिक्त ऐसी कोई वस्तु नहीं, ऐसा कोई स्थल नहीं जहाँ से जीव को परम शान्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति हो सके। जब तक मनुष्य संसार के सुखों में आसक्त है तभी तक, अधिकाधिक सुख लिप्सावश और दुःखों के भयवश प्रकृति की शक्तियों की ओर आकर्षित होता है, उन्ही को परमाश्रय मानता है, लेकिन वास्तविक परमाश्रय को नही जानता। इस सुखासक्ति का त्याग करने पर ही सत्य परमाश्रय का योगानुभव होता है और तभी परम शान्ति प्राप्त होती है।

दर्शनीय आश्चर्य

यह आश्चर्य की बात है कि जहाँ अनन्त आनन्द की लहरें उठ रही हैं, जहाँ असीम शान्ति बरस रही है, वहाँ अज्ञानवश मनुष्य नाममात्र के दुखों से भयभीत होकर नहीं जाते, और जहाँ अनन्त दुखों की लहरें उठ रही हैं, जहाँ घोर अशांति का कुहरा छाया हुआ है, जहाँ राग के गहन गर्त, एवं द्वेष की दुर्गम दीवारें सत्य लक्ष्य को छिपाये हुए हैं, वहाँ नाम मात्र के सुख-लोभवश अन्धकार में भटकते हुए प्राणी इस दुर्लभ जीवन का दुरुपयोग कर रहे हैं।

यह भी आश्चर्य की बात है कि जो परमानन्दस्वरूप, सर्व- शक्तिमान अपने निकट से निकट और परमप्रेमास्पद व परमात्मदेव हैं, उन परम प्रेममय प्रभु की शरणापन्न न होकर अज्ञानी मनुष्य संसार के पदार्थों का आश्रय ले रहे हैं, प्रकृति की उन शक्तियों के सेवक बन रहे हैं, जो क्षणभंगुर, नितान्त निस्सार तथा भयप्रद हैं।

यह भी आश्चर्य की बात है कि भौतिक जगत् की जिस भूमि को, जिस सम्पत्ति को तथा संसार में उत्पन्न होने वाले शरीर आदि पदार्थों को अपना मानकर अभिमान करने वाले असंख्य मनुष्य अन्त में उन सबको छोड़कर खाली हाथ ही चले गए उसी भूमि को, उसी सम्पत्ति को और उन्हीं देहादिक पदार्थों को अपना मानकार अज्ञानी मनुष्य उनमें रागासक्त हो रहे हैं। यह देखते हुए भी कि संसार की कोई भी वस्तु किसी के साथ नहीं जाती, फिर भी मोह के वशीभूत होकर मनुष्य उन्हीं वस्तुओं को 'मेरी' 'मेरी' कहते हुए मर रहे हैं, जहाँ अपना सदा का संगी शरीर भी साथ नहीं देता वहाँ दूसरे संबंधियों के शरीरों को अपना मानकर उनके सम्बन्ध-विच्छेद में विकल हो रहे हैं, किन्तु अपने समस्त दुःखों का कारण जो अज्ञानजनित मोह है, उसका त्याग करके विरक्त नहीं होते।

एक आश्चर्य की बात और भी देखिये, जो वस्तु किसी को देने से उसके साथ जाती नहीं है और अज्ञानवश परस्पर देने और लेने वाले मानकर अज्ञानी मनुष्य अपने मन मनाते रहते हैं।

यह और भी आश्चर्य की बात है कि जहाँ मनुष्य अपने ही समान अनेकों प्राणियों का अचानक, किसी न किसी निमित्त से देहावसान होते देखते हैं, वहाँ अपने देह की अचानक, न जाने कब हो जाने वाली मृत्यु के लिए सावधान नहीं रहते, बल्कि इसके विरुद्ध ऐसे भावों को लेकर दैनिक व्यवहारों

में स्वार्थपरता ही चरितार्थ करते हैं मानों कोई अविनाशी देह धारण करके आये हों। यह भी आश्चर्य की बात है कि अज्ञानवश मनुष्य विविध विषयों में प्राप्त होने वाले सुख की तृष्णा को नाना प्रकार के भोगों के द्वारा तृप्त करना चाहते हैं, यह तृष्णा तो कभी किसी की तृप्त होती नहीं बल्कि तृप्त करने वाले जीव को ही यह राक्षसी खा लेती है, फिर भी मनुष्य इसे तृप्त करने में ही जीवन का अपव्यय कर रहे हैं।

इस सुख की तृष्णा की तृप्ति चाहनेवाले मनुष्यों के खाते-खाते दाँत घिस गये, देखते-देखते आँखें दृष्टिहीन हो गई, सुनते-सुनते कान बहरे बन गये, अन्त में विषयों को भोगते-भोगते शक्तिहीन और जराशीर्ण हो गये फिर भी तृष्णा जीर्ण न हुई।

यह भी आश्चर्य की बात है कि सब कुछ देखने, सुनने, समझने का दम भरते हुए मानव उसे ही नहीं जानते, जिसके जानने से परम सन्तोष प्राप्त होता है, उसे ही नहीं देखते जिसके देखने से परमानन्द का अनुभव होता है, उसके ही विषय में नहीं सुनते, जिसके विषय में सुनने से परम तृप्ति होती है, उसकी ओर नहीं चलते जिसकी ओर चलने से परमधाम की प्राप्ति होती है।

सन्त शब्द- नारायण सुख-भोग में, मस्त सभी संसार।
कौन मस्त या मौज में, देखहु आँख पसार।।

नित्य योग का क्रम

अपने परम प्रियतम से नित्य योग तभी होता है जब उन्हीं का निरन्तर प्रगाढ़ ध्यान रहता है।

प्रगाढ़ ध्यान तभी होता है जब एकमात्र उन्हीं से पूर्ण प्रेम होता है (लोग किसी काल्पनिक मूर्ति या चित्र अथवा किसी संकेत में ध्यान करते हैं, परन्तु यह तो प्रेम न होने के कारण चंचल मन को एकाग्र करने के उपाय हैं)। पूर्ण प्रेम तभी होता है जब प्रेमास्पद प्रभु की महिमा एवं गुण, सौन्दर्य का ज्ञान होता है। ज्ञान तभी होता है जब अन्तःकरण शुद्ध होता है।

अन्तःकरण किस प्रकार शुद्ध होता है?इसके साथ ही यह जान लेना आवश्यक है कि अन्तःकरण अशुद्ध कैसे हुआ है। अशुभ वासना व्यापार एवं विषयजनित सुखभोग की कामना से प्रेरित अशुभ कर्मों के करते रहने से ही अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार) अशुद्ध हुआ है। अतः शुभ कर्मों के करने से ही अन्तःकरण शुद्ध होता है। शुभ कर्म तभी होते है जब मन

में सद्भाव दृढ़ होते हैं, सद्भाव तभी दृढ़ होते है जब सत्-असत् का समुचित ज्ञान होता है। समुचित ज्ञान तभी होता है, जब ज्ञानी सन्त-सद्गुरु का संग होता है।

सन्त-सद्गुरुदेव का संग तभी सुलभ होता है जब हृदय में श्रद्धा विकसित होती है। श्रद्धा तभी विकसित होती है जब सन्त-सद्गुरुदेव का दर्शन होता है। दर्शन तभी होता है जब पुण्य सुसंस्कारवश सन्त-सद्गुरुदेव की महिमा सुनकर विश्वास जाग्रत होता है।

अपने परम लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए मनुष्य के आगे प्रथमतः कुछ सीमा तक ऐसा अन्धकारमय क्षेत्र हैं, जहाँ न तो कहीं पथ सुझाई देता है और न पथ-विषयक यथार्थ ज्ञान ही होता है, यहाँ पर केवल विश्वास के सहारे हताश जीवन गतिशील होता है। यह विश्वास ही पग-पग में आती हुई कठिनाइयों को धैर्य पूर्वक पार कराता है और गति की शिथिलता में स्फूर्ति प्रदान करता है। विश्वास के सहारे से ही पथिक प्रकाश की उस सीमा को पा लेता है जहाँ विवेकी सन्त महात्मा जन मिल जाते हैं। यही पर श्रद्धा की आँखे अपने पथप्रदर्शक गुरुदेव को पहिचान लेती हैं। यहीं से विश्वास अपने यात्री को विचार के हाथों में सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है। पुनः विचार से वैराग्य, तथा विराग से त्याग होते हुए ज्ञान, एवं ज्ञान से प्रेम, और प्रेम से ध्यान दृढ़ होता है। इसी दृढ़ ध्यान से प्रियतम प्रभु का नित्य योग लाभ होता है।

संसारी जीवों के लिये दुर्लभ पदार्थ

असत् सुखों के लोभी और असत्कर्मी मनुष्यों को सत्यानन्द की ओर ले जाने वाला सद्धर्म और उनके अनुयायी धर्मात्मा पुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं। इस जगत में रागासक्ति से पतित हुए प्राणी को पावन बनानेवाला त्याग और रागरहित-त्याग के पक्षपाती त्यागी पुरुष भी अत्यन्त दुर्लभ हैं।

इसी प्रकार अज्ञान अंधकार में भटकते हुऐ मनुष्यों के जीवन पथ में प्रकाश देनेवाला सद्ज्ञान और ज्ञानी सत्पुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं। इस प्रपंचमय परिर्वतनशील संसार में मोहाबद्ध जीवों को मोहासक्ति से मुक्त करनेवाला प्रेम और निष्काम-प्रेमी अत्यन्त दुर्लभ हैं।

सत्य धर्म को न जानने के कारण ही दुर्भाग्यवश मनुष्य कुपथ में भटक रहे हैं। त्याग न कर सकने के कारण ही मनुष्य रागासक्त होकर अत्यन्त दीन दुखी हो रहे हैं। ज्ञानी सत्पुरुषों से सद्ज्ञान न प्राप्त कर सकने के कारण ही

मनुष्य अज्ञान अन्धकार में नाना प्रकार के द्वन्द्वाघातों को सहते हुए निरर्थक प्रलाप में समय नष्ट कर रहे हैं। निष्काम प्रेम एवं भक्ति भावरहित जीवन बिताते हुए मनुष्य अशरण दशा में अपने को असहाय रूप से अकेले आते हुए अकेले ही जाते हुए पाते हैं और अकेले ही निज कृत कर्मों का फल भोगते हैं। वस्तुतः इसी प्रकार के मनुष्यों के लिये धर्मात्मा त्यागी तथा ज्ञानी और निष्काम प्रेमी सत्पुरुष दुर्लभ हैं। एक सन्त के शब्दों में -

धन दारा सुत लक्ष्मी, पापिहु के भी होय।
सन्त-मिलन अरु हरिकथा, तुलसी दुर्लभ दोय।।

संसार में निरर्थक और सार्थक जीवन

सांसारिक भोगों में सुख की अतृप्त वासना ही प्रत्येक जीव को संसार में लाती है; लेकिन जहाँ सर्वसाधाराण जीव अपनी अतृप्त वासनाओं का भोग करने आते हैं, वहीं पर सांसारिक सुख भोगों से विरक्त, सत्यानन्द से तृप्त कुछ महान पुरुष अनकों वासनासक्ति से बद्ध जीवों को मुक्ति का मार्ग दिखाने आते हैं।

यदि आप अपने अतृप्त सुख की वासना को तृप्त करने के लिए संसार में आये हैं तो बुद्धिमानी की बात यही है कि आप यथार्थदर्शी, ज्ञानी सत्पुरुषों से समझ लीजिये कि संसार क्या है?और संसार का सुख क्या है?तभी आपका जगत् में आना सार्थक होगा। जब आप विविध भोगों में माने हुए सुखों को भोगते हुए उनके यथार्थ रूप को जान लेंगे और संसार में रहते हुए संसार की आकृति, प्रकृति को पहिचान लेंगे तब आपको संसार के द्वारा मिलनेवाले क्षणिक सुखों के लिए संसार में आने की वासना न रह जायगी। संसार में आकर जिस जीवन के द्वारा, अथवा जीवन के साथ रहने वाले जन, धन, बुद्धि, विद्या आदि विविध पदार्थों के द्वारा आप एक मात्र सच्चिदानन्द स्वरूप परम तत्व को जानते हैं और भक्त होते हैं, वही जीवन तथा उस जीवन से सम्बद्ध जन धनादि पदार्थ सार्थक हैं। इसके विरुद्ध जिस जीवन तथा उससे सम्बद्ध जिस जन, धन, बुद्धि विद्या आदि पदार्थों के द्वारा आप संसार के असत् सुखों की ओर जाते हैं, वही जीवन अथवा जन-धनादि पदार्थ निरर्थक हैं। सांसारिक सुख-भोग का जो रागी है, उसका सब कुछ निरर्थक है, और जो सत्यानन्द के लिए उनका त्यागी है, उसका सब कुछ सार्थक है।

संसार में ज्ञानी पुरुषों का सब कुछ सार्थक है, लेकिन जो अज्ञानपूर्ण जीवन व्यतीत करते रहते हैं, उन अज्ञानियों का सब कुछ निरर्थक है।

यदि आप संसार में आकर संसार के सुखदुख हानि-लाभ, संयोग-वियोग, मान-अपमान, जीवन-मरण आदि द्वन्द्वों को देखते हुए, इनकी उत्पत्ति के कारण-भूत अज्ञान को जान लेते हैं तो आपका सब कुछ सार्थक है, और यदि आप सांसरिक द्वन्द्वों को देखते हुए इनके कारण को न जान सके और इनके बीच में आबद्ध रह गये तो आपका सब कुछ निरर्थक है। जीवन का जितना भाग एवं जीवन के लिए संगृहीत जितने पदार्थ आप अपने परम प्रेमास्पद प्रभु को समर्पित कर चुके हैं, केवल उतने ही को सार्थक समझिये और जितना कुछ अपने क्षुद्र अहं की रुचिपूर्ति के लिए बचाये हुए हैं, उतना निरर्थक ही जानिये।

सांसारिक भोग-सुख से विरक्त होकर सत्यानुरक्त होना ही जीवन की सार्थकता है और अज्ञानवश सांसारिक भोगों से उत्पन्न सुखों में आसक्त होकर सत्यानन्द से पृथक रहना ही जीवन की निरर्थकता है। जो मनुष्य अज्ञानवश जगत् के संबंधियों एवं जगत् के पदार्थों से परमशान्ति प्राप्त करने की आशा रखते हुए विविध सम्बन्धियों तथा संगृहीत पदार्थों में आसक्त रहते हैं, उनका जीवन निरर्थक ही चला जाता है। किसी ने निराश होकर इसीलिए कहा है-

गुल चढ़ायेंगे लहद पर जिनसे यह उम्मीद थी।
वे भी पत्थर रख गए सीने पै मर जाने के बाद।।

संसार की स्वार्थमयी प्रीति नीति का उपर्युक्त शब्दों में अनुभव करते हुए संसार से निराश होकर जो सत्याधार की शरण लेते हैं उन्ही का जीवन सार्थक है।

संसार के सम्बन्ध मिटाने की युक्ति

जिस प्रकार अपने अनुकूल एवं हितैषी सम्बन्धियों की व्यावहारिक सेवाओं, सहायताओं का बदला समयोचित अवसरों पर न देने से पारस्परिक मित्रता का सम्बन्ध टूट जाता है, उसी प्रकार प्रतिकूल भाव से बुराई करने वाले अथवा हानि पहुँचाने वाले द्वेषियों के कृत्यों का बदला तद्नुसार न देने से स्वतः शत्रुता का सम्बन्ध भी टूट जाता है।

जिसके सम्बन्ध में आप में ईर्ष्या, द्वेष एवं क्रोधादि विकारों का पोषण होता है, उस सम्बन्धी के किसी भी प्रकार के दुर्व्यवहारों का उत्तर न दीजिये। धैर्य और सहनशीलता अथवा क्षमा के द्वारा उसके प्रति मौन स्थिति में दृढ़ रहिये। जब कभी किसी की ओर से प्रतिकूल कटु आघात अपने ऊपर आवें, तब प्रारब्ध कर्म का भोग समझकर समबुद्धि से तपस्वी की भाँति सहन करते चलिये। ऐसा करने से आपका भविष्य अत्यन्त सुन्दर निष्कंटक तथा निरापद बन जाएगा, और तभी आप जीवन में अपूर्व शान्ति का अनुभव करते हुए मुक्ति के पथ में अग्रसर हो सकेंगे।

संसार से निराश होकर सत्य की शरण लो

संसार से निराश होने के लिए इस देह की रचना पर इसके द्रव्यों और मृत्यु के पश्चात् इसकी दशा पर विचार कीजिये।

कबीर गरब न कीजिये, काल गहे कर केस।
ना जाने कित मारि है, क्या घर क्या परदेश।।
हाड़ जरैं ज्यों लाकरी, केश जरैं ज्यों घास।
सब जग जरता देखिकर, भये कबीर उदास।।

आप चाहे जितना वैभव, ऐश्वर्य, जन, बल आदि से सम्पन्न होंवें, लेकिन मृत्यु के समय अपने धन, वैभव की ओर; मंत्री, मित्रों की ओर; माता, पिता, पत्नी, पुत्र की ओर सहायता की आशा से देखते ही रह जायेंगे, परन्तु कोई भी आपका साथ न देगा, चाहते हुये भी रक्षा न कर सकेगा। उसी समय आपको पता चलेगा कि अपने परम प्रेमास्पद, सच्चे प्रभु की शरण लिये बिना आप किस तरह अनाथ है अतः सनाथ होने के लिए तत्वज्ञान के द्वारा जगन्नाथ को जान लीजिये, स्वयं जगन्नाथ जगन्नाथ होने का झूँठा गर्व न कीजिये।

सांसारिक जनों का प्रेम न तो सुन्दर है न सत्य है

आप संसारी जनों के प्यार-दुलार अथवा प्रेम-प्रपंच में रागासक्त होकर धोखा न खाइये। जो व्यक्ति अज्ञानी हैं, मन्दमति हैं, स्वार्थी हैं, वे भला प्रेम करना क्या जानें। वास्तव में विशुद्ध प्रेम तो ज्ञानी सत्पुरुष ही जानते हैं। जिन्हें आप अपना प्रेमी समझते हो उन्हे देखिये, क्या वे यथार्थ ज्ञानी हैं?यदि नहीं तो याद रखिये! उनका प्रेम न तो सुन्दर होगा, न सत्य ही होगा।

जहाँ कहीं किसी की किसी के द्वारा रुचि की पूर्ति होती है, विविध कामनाओं की तृप्ति का अवसर मिलता है वहीं पर प्राणों का जो पारस्परिक आदान-प्रदान है, मन का जो एक दूसरे के प्रति आकर्षण है, प्रायः उसी को मनुष्य प्रेम कहने की भूल करते हैं। वस्तुतः यह प्रेम नहीं है बल्कि प्रेमाभास है, मनोरोग है, मोह है। यह न सत्य ही है, न सुन्दर है।

भावना के अनुसार ही जगत् दीखता है

यदि आप सरल, विनम्र, श्रद्धालु एवं प्रेम-प्रधान व्यक्ति है, तो अपको हर ओर प्रायः सद्‌गुणसम्पन्न, साधु प्रकृति के, प्रेमी पुरुष ही मिलते रहेंगे। उत्तम प्रकृति के हृदय स्वतः आपकी ओर आकर्षित होंगे। इसके विरुद्ध स्वार्थी प्रकृतिवाले अभिमानी, छिद्रान्वेषी, सज्जनद्रोही, परनिन्दक पुरुष को कहीं सज्जन, साधु प्रकृति के सत्पुरुष दिखाई ही नहीं देते। इस प्रकार की स्वार्थी प्रकृति वाले मनुष्य जब तक अपने ही जीवन के लिये स्वार्थ सुख की सिद्धि चाहेंगे, तब तक उन्हें राग-द्वेष के भावों से यह जगत् समस्त अनर्थों, दुखों और बुराइयों से ही भरा हुआ दीखेगा, लेकिन जहाँ वे परार्थ और परमार्थ के पथिक हो जायेंगे वहीं से त्याग और प्रेम के सद्‌भावों से यही जगत् उन्हें समस्त सद्‌गुणों सुखों तथा समस्त भलाइयों का अविराम स्त्रोत प्रतीत होगा।

आपमें जितने ही उच्चकोटि के सद्‌भाव विकसित होंगे, उन्ही के अनुसार आपकी सहायता के लिए इसी प्रपंच के बीच में पवित्र शक्तियाँ समयानुसार उपस्थित होती मिलेंगी। आप भले ही उन्हें न देख सकें पर उनकी दृष्टि तो अधिकारी भावुकों पर पड़ती ही रहती है।

संसार में किस प्रकार रहना चाहिए

एक सन्त का कथन है कि जल में जब तक नाव जल के ऊपर रहती है, तब तक कोई भी उस (जलाशय) को नाव के द्वारा पार कर सकता है, लेकिन नाव में ही यदि जल भर जाय तो वह डूब जायेगी। उसी प्रकार यह जीवन संसार में रहे परन्तु जीवन में संसार न भरने पावे, तो संसार में चलते हुए संसार को पार किया जा सकता है अतः आप अपने जीवन को संसार में होकर गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ाते चलिये; लेकिन संसार को जीवन के भीतर न आने दीजिये।

यदि किसी छिद्र से संसार-प्रपंच भरने लगे तो साधन-संयम की युक्ति से उस छिद्र-द्वार को बन्द कर दीजिये और पुरुषार्थ के द्वारा इस मायामय संसार से पार हो लीजिये।

मुक्ति का उपाय

सांसारिक पदार्थो एवं सम्बन्धियों में आसक्त होना ही बंधन है। सांसारिक सुख-भोग की वासना ही बन्धन में बाँधती है। इसलिए वासना से रहित हो जाना ही मुक्त होना है।

मनुष्य को अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए तुच्छ, अति तुच्छ पदार्थों के पीछे दीन-हीन होकर स्वतंत्र रूप से रहना पड़ता है। वासनापूर्ति की कामना से न जाने किस-किस प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं, उन्ही कर्मों के परिणामस्वरूप राग द्वेष की वृद्धि होती है। पुनः राग द्वेषवश अनन्त कर्म बन्धनों से विवश जीव बध्द दशा को प्राप्त होता है। इसलिए सद्विवेक का आश्रय लेकर जो कोई वासना का त्याग करेगा, उसे फिर संसार से राग न होगा, जब राग न होगा तब द्वेश भी न होगा, जो राग-द्वेश रहित होगा उसका अन्तःकरण स्थिर और शान्त होगा। वस्तुतः ऐसा ही मनुष्य मुक्ति का यर्थाथ अधिकारी होता है।

यह तो सभी को अनुभव होता रहता है कि वासना पूर्ति की कामना उत्पन्न होते ही दुःख होने लगता है; इसी दुःख के कारण कामना की पूर्ति क्षण में सुख प्रतीत होती है। यहाँ पर बुद्धिमान् पुरुष को ध्यान देकर समझना चाहिये कि यदि सांसारिक पदार्थों अथवा भोगों से मिलने वाल सुख किसी को संतुष्ट कर सकते होते, यदि कामनाओं की पूर्ति से किसी को परमशान्ति मिली होती तो महान वैभव एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न पुरुष अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए अभिलषित सुख भोगते हुये भी अन्त में जगत-प्रपंच से विरक्त होकर भोगजनित सुखों का त्याग क्यों करते?यदि उन भावुक पुरुषों को इस अनित्य संसार में परमान्नद प्राप्त हो गया होता तो वे तपोमय जीवन बिताते हुये नित्य तत्व की खोज क्यों करते?यदि जगत् के सम्बन्धियों से स्थित तृप्ति मिली होती तो अनेक भाग्यवान् ज्ञानी पुरुष उन सबका संग त्याग करके असंग अन्तरात्मा की शरण क्यों लेते?और संसार में भटकते, भूलते अज्ञानियों को असत् के त्याग और सत्यानुराग का सदुपदेश क्यों देते?अर्थात् यदि सांसारिक पदार्थ एवं सम्बन्धियों द्वारा कामनाओं की पूर्ति में स्थायी सुख और स्थिर आनन्द मिलता

होता, तो विवेकी पुरुष, संसार से विरक्त न होते, बल्कि उसी में आसक्त रहते।

पुण्यवान् का पतन और उत्थान

प्रत्येक प्राणी को पापों की प्रबलता से दुख मिलते हैं और पुण्यों की प्रबलता से सुख मिलते हैं।

राग और सुख भोग से पुण्य घटते हैं, पाप बढ़ते है। त्याग और तप से पुण्य बढ़ते हैं पाप घटते हैं।

जब मनुष्य के समस्त पाप क्षीण हो जाते हैं तब वह मनुष्य रूप में पवित्र देवता हो जाता है और जिसके पुण्य क्षीण हो जाते हैं वह मानवरूप में निरी पशुप्रकृति धारण करता है। पशु अपने अनुरूप से बाँधा जाता है, मनुष्य पर उचित शासन, नियन्त्रण रखा जाता है और देव स्वतंत्र होता है; लेकिन पूर्ण मुक्ति तो उस पुण्यवान को ही प्राप्त होती है जो यर्थाथ ज्ञानी एवं पूर्ण प्रेमी होता है। जो यथार्थ ज्ञान एवं सत्य प्रेम से रहित है, वह पुण्यवान होकर पुनः पुण्यों का भोग करने के लिये संसार का रागी बनता है और पुण्य क्षीण होने पर फिर पापी हो सकता है लेकिन यथार्थ ज्ञानी एवं पूर्ण प्रेमी सांसारिक सुखों का रागी नहीं होता, वह तो परम् प्रभु का अनुरागी होता है, इसीलिये वह संसार की ओर नहीं देखता, सत्य प्रभु की ओर देखता है। वह बध्द नहीं होता वरन् मुक्त स्वरूप हो जाता है।

तप के भेद और उनके फल

कुछ लोग ग्रीष्म या शीतकाल में नग्न रहकर सर्दी गर्मी सहन करने को पंचाग्नि तापने को अथवा जल में खड़े रहने को ही तप समझतें हैं, लेकिन विचारवानों की दृष्टि में, शरीर के द्वारा, इन्द्रिय तथा मन के द्वारा हर प्रकार के द्वन्द्वाघातों को समस्थित होकर सहन करना ही तप है। इस प्रकार के तप से वह सुकुमारता, असहनशीलता, वह निर्बलता दूर होती है, जिसके कारण मनुष्य कर्तव्यपालन नहीं कर सकता और कर्तव्य पालन किये बिना वह सन्मार्ग में गतिशील नहीं हो पाता।

तप से ऐसी शक्ति प्राप्ति होती है जिसके बल से मनुष्य परावलम्बी न बनकर स्वावलंबी होता है, इसी कारण वह दूसरों से सेवा न लेकर स्वयं ही दूसरों की सेवा करता रहता है और सेवा करते हुये वह अधिकाधिक पुण्यों का

धनी होता है। जिसके पास पुण्य रूपी धन है, वही मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते हुये सुख का भोगी है। इसीलिए लोग कहा भी करते हैं कि, तप से राजभोग और भोग से (पुण्य क्षीण होने पर) नरक अर्थात् पतन होता है लेकिन जो पुण्य रूपी मूल्य चुकाकर सांसारिक सुखों के भोगी नहीं बनते वह सत्यानन्द के योगी होते है। ऐसे योगियों का परमोत्थान होता है।

जो मनुष्य बाहर से होने वाले तीक्ष्ण आघातों को, कटु आक्षेपों को और मन को चंचल बना देने वाले, काम, क्रोध, मोहादि के उद्वेगों को अविचलित भाव से सहन करता है, वही तपस्वी है। जो अपने प्रेमपात्र, श्रद्धापात्र, स्नेहपात्र अथवा करुणापात्र अधिकारी जनों की हित भाव से सुखद सेवा करते हुये अपने सुखों का त्याग करता है और स्वयं उसी निमित्त नाना प्रकार के कष्टों को सहर्ष सहन करता रहता है वही आर्दश तपस्वी है। जो व्यक्ति केवल देह रक्षा के लिए सतोगुणी भोजन करता है, देह रक्षा के लिये स्वल्प वस्त्रों से निर्वाह करता है, और वह भी इस भाव से कि सेवा करने के लिए शरीर बलवान रहे, स्वस्थ रहे, वही उत्तम तपस्वी है। मनुष्य के उत्तम मध्यम और अधम, स्वभाव के अनुसार तप भी सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी तीन प्रकार का होता है।

सतोगुणी तप के फल में योग की प्राप्ति होती है, रजोगुणी तप के फल में भोग की प्राप्ति होती है और तमोगुणी तप के परिणाम में रोग की प्राप्ति होती है।

उत्तम तप वह है जिसमें विवेक प्रधान होता है, मध्यम तप वह है जिसमें सद्‌भाव प्रधान होता है, विवेक नहीं होता और अधम तप वह है जिसमें क्रिया की ही प्रधानता रहती है, भाव भी शुद्ध नहीं होता।

प्रकृति के भेद से राक्षसी तप मानवी तप और दैवी तप के अनुसार फलभोग में भी भेद रहता है।

तप से शक्ति बढ़ती है शक्ति से सेवा हो पाती है, सेवा से पुण्य संचित होता है और संचित पुण्यों से स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ की सिद्ध होती है।

सेवाधर्म

जिस प्रकार प्रेम के द्वारा अनायास ही शान्तिप्रद त्याग सिद्ध हो जाता है उसी प्रकार सेवा के द्वारा अनायास ही पुण्यवर्धक तप की सिद्धि होती है।

जब आपको अपने से श्रेष्ठ जनों अथवा श्रद्धास्पद गुरुजनों की सेवा का अवसर प्राप्त हो तब सहनशीलता से सुसज्जित होकर सेवा कीजिये, लेकिन अपने समकक्ष लोगों की सेवा का अवसर प्राप्त हो तब स्नेह भाव की प्रधानता को कहीं भी न भूलिये और जब अपने छोटों की तथा असहाय, दीन, दुखियों की सेवा का अवसर सुलभ हो तब क्षमा-भाव का ही निरन्तर आश्रय लिये रहिये। ऐसा करने से कदाचित् प्रसंगवश सामने आ जाने वाले श्रेष्ठजनों के रोष या शासन से, तथा समकक्ष लोगों की ओर से होने वाली उदासीनता अथवा अवहेलना से, और छोटे व्यक्तियों की अज्ञानवश होने वाली भूलों से आप अपने सेवाधर्म से विचलित न होंगे।

सेवा करते हुये कहीं अभिमान न आने देना चाहिये और न सेवा के बदले में अपनी ख्याति अथवा प्रशंसा की ही इच्छा रखनी चाहिये। जिसकी सेवा का अवसर प्राप्त हो, उसकी उसकी भूलों को देखकर रुष्ट न होना चाहिये और उसके किसी प्रकार के दोषों के कारण उससे किसी प्रकार से घृणा भी न करनी चाहिए, क्योंकि किसी की सेवा तो गुण ग्रहण करने के लिए की जाती है, और किसी की सेवा दोष हरण करने के लिये की जाती है।

सेवा करते हुये हर एक प्रतिकूलता को सहन करते हुये, शान्त, समस्थित रहना, कभी भी आलस्य को स्थान न देना, निरन्तर कर्तव्य पालन करने के लिये प्रमादरहित होकर सावधान रहना, यही पुण्य प्रदायिनी तपश्चर्या से सुसज्जित सेवा है।

अपने सुख के लिए दूसरों से सेवा लेते हुये सांसारिक भोगों के पथ में जितना पतन होता है, उतना ही दूसरों को हितप्रद सुख देते हुये सेवा करने से शीघ्रतया उत्थान होता है।

रागी और त्यागी

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्।।

‘विद्या के समान चक्षु नहीं, सत्यानुसरण के समान तप नहीं, राग के समान संसार में और दुःख नहीं और त्याग के समान और कहीं सुख नहीं।’

परमार्थ के पथ में अपने सत्य लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए आप नीची सीढ़ियों में ही नहीं, बल्कि ऊँचे से ऊँचे सोपानों पर चढ़कर जहाँ कहीं अपने

परम लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य वस्तु के रागी होंगे, वहीं से आपकी प्रगति में रुकावट पड़ने लगेगी और जहां कहीं त्यागी होंगे, वहीं से प्रगति होने लग जायगी।

यदि आपको अपने जीवन के सत्य लक्ष्य का ज्ञान हो गया है तो उसके अतिरिक्त संसार में कहीं भी रागासक्त होकर न रहिये; बल्कि सबसे हर एक दशा में विरक्त होकर, संसार की प्रत्येक वस्तु को, प्रत्येक सम्बन्धी को, वहीं तक अपने साथ रहने दीजिये जहाँ तक वह सद्गुण-विकास में सहायक हो और परमार्थ पथ में बाधक न बने। प्रत्येक मनुष्य के अपने-अपने प्रारब्ध संस्कार के अनुसार जीवन विकास के लिये कहीं विद्या की, कहीं धन की, कहीं स्त्री तथा पुत्र की, कहीं ऐश्वर्य आदि की आवश्यकता है। संसार के किसी भी पदार्थ की आवश्यकता, ज्ञान न होने के कारण है, इसीलिए उस आवश्यक प्रतीत होने वाले पदार्थ की प्राप्ति हो जाने पर उसका यथोचित ज्ञान प्राप्त कर लेना विचारवान् मनुष्य का कर्तव्य है।

संसार के किसी भी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसका त्याग ही अत्यावश्यक हो जाता है; क्योंकि सांसारिक पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त न होने के कारण ही उनके प्रति राग रहता है; इसीलिए रागी अज्ञानी होता है और त्यागी ज्ञानी होता है। रागी, अज्ञानवश विषय-सुखों की प्राप्ति के लिए संसार का उपासक अथवा भक्त होता है और त्यागी, परमानन्द की प्राप्ति के लिये एक सत्य परमात्मा का उपासक भक्त होता है। रागी अपने स्वार्थ सुख के लालचवश ऐसे कर्म करता है कि एक जीवन के किये हुए कर्म अनेक जन्मों तक बन्धन का कारण बनते हैं और त्यागी अपने परमार्थ की सिद्धि के लिए एक जीवन में ही ऐसे कर्म बना लेता है कि जिनके परिणामस्वरूप अनेक जन्मों के कर्म बन्धन कुछ महीनों या कुछ वर्षों में ही टूट जाते हैं।

रागी में असत् पदार्थों के प्रति मोह प्रधान रहता है और त्यागी में सत्य परमात्मा के प्रति प्रेम प्रधान होता है।

रागी एक सत्य को न देखकर संसार के अनेकत्व को देखता है और त्यागी असत् के नानात्व को न देखकर केवल एक तत्व को देखता है। रागी के अनेक लक्ष्यों में परमात्मा की भक्ति भी एक लक्ष्य होता है, और त्यागी का परमात्मा की भक्ति ही एकमात्र लक्ष्य होता है।

रागी अपने स्वार्थ-सुख की सिद्धि के लिए संसार से निराश हो जाता है, परमात्मा की प्राप्ति के लिए कभी कुछ करता है, और त्यागी अपने

परमार्थ-परमानन्द की प्राप्ति के लिये परमात्मा की प्रसन्नतार्थ ही सब कुछ करता है।

रागी भय या स्वार्थसिद्धि के लिय परहित भी करता है, और त्यागी परमार्थ के पथ में परहित ही करता है।

रागी परमात्मा का भी कभी-कभी चिन्तन-ध्यान करता है, और त्यागी सर्वदा परमात्मा का ही चिन्तन-ध्यान करता है।

रागी कभी-कभी दया, धर्म, दान एवं कर्तव्य का भी ध्यान रखता है और त्यागी सदा दया, धर्म, दान एवं कर्तव्यपालन का ही ध्यान रखता है। रागी एक के साथ अनेक भी देखता है और त्यागी एक ही को देखता है।

आप इस बात को अपने जीवन में न भूलें कि राग से ही रुकावट होती है और त्याग से ही प्रगति होती है।

यदि आप कई प्रकार की विद्याओं के ज्ञाता हैं, यदि आप विशेष ऐश्वर्य, बल-वैभववाले पूँजीपति धनी व्यक्ति हैं, तो इनमें रागासक्त होकर न रहिये, बल्कि विरक्त रहकर दूसरों के हितार्थ इनका त्याग करते रहिये।

यदि आपको संसार की ओर से सेवा, सम्मान, प्रतिष्ठा, उच्च पदाधिकार प्राप्त हों, तब भी आप उनके रागी या भोगी न होइये; तभी आपके सुन्दर तपोमय जीवन में विशेष प्रकार की शक्तियों एवं चमत्कारों की जागृति दिखाई देगी। परन्तु यहाँ पर भी राग के त्याग की ही साधना प्रधान रखिए। ऐसा करते हुए आप परमार्थ के पथ में और भी ऊँचे-ऊँचे सोपानों पर चढ़ते जायेंगे, तथा आपमें अधिकाधिक ज्ञान का विकास होगा। किन्तु इस अवस्था में आप केवल ज्ञान कथन के व्यसनी और प्रवचन के रागी न बनिए, बल्कि उस ज्ञान प्रकाश में मनोयोग पूर्वक अपने जीवन के गुप्त स्तरों का निरीक्षण कीजिए और छिपे हुए दोषों का त्याग करते चलिये। ऐसा करते हुए आपका जीवन विशेषरूप से निर्मल होता जायगा और तब आपके दर्शन मात्र से जन-समाज को शान्ति मिलेगी, जनता आपके सामने अत्यन्त श्रद्धा से मस्तक झुकायेगी, जन-समाज की ओर से आपको गुरुपद प्राप्त होगा। फिर भी आप सावधान रहिये, किसी के सेवाभाव में मुग्ध होकर उसके रागी न हो जाइये। मानव-समाज के कल्याण की ओट में, धर्मप्रचार की ओट में कहीं क्षुद्र वासनाओं की पूर्ति न करने लग जाइये। सभा, संघ, सम्प्रदाय, आश्रम की सीमाओं में बैठकर सुख सन्तोष की कल्पना करते हुए अपने परम लक्ष्य के

प्रापक त्यागपथ को न छोड़िये। ध्यान रहे! राग का त्याग होने पर ही परमार्थ तत्व का बोध होता है।

परमार्थ के पथ में चलते हुए भविष्य में क्या होगा इसका चिन्तन न कीजिये, और अभी तक क्या-क्या हो चुका है इसका भी मनन न कीजिये। केवल वर्तमान में प्रारब्धवश जो कुछ भी कर्मभोग उदय हों, उन्हें निर्भय, निःशंक होकर निपटातें चलिये। ऐसा करना तभी सरल होगा, जब आप कहीं रागी न बनें, और सत्य की प्राप्ति के लिये पूर्ण त्यागी होकर रहें।

जिस-जिस प्रकार से इस रागद्वेष का सर्वभावेन नाश हो, उसी प्रकार के साधनों को आचरण में लाइये- यही सन्त सद्गुरु की आज्ञा है।

रागवश ही द्वेष और लोभ, क्रोधादि विकारों की उत्पत्ति तथा स्थिति होती है, इसलिये राग का ही त्याग कीजिये।

त्यागी त्यागी सब कहैं, और त्याग सब थोर।
त्यागी तब ही जानिये, त्यागे घट का चोर।।

जो रागी है उसी को त्यागी होना पड़ता है। विचार-दृष्टि से देखें तो प्रत्येक मनुष्य का मान ही रागी है। अतः इस जगत् में भूले हुए रागी मन को जो त्यागी बना दे वही पूर्ण त्यागी है, इसे ऐसे समझिये - मानना और मनन करना ही मन का स्वरूप है। जो कोई इस संसार में मानना और मनन करना त्याग दे वही रागी मन को त्यागी बनाता है। पूर्ण त्यागावस्था में स्वयं मन ही विलीन (परित्यक्ता) हो जाता है।

समस्त दृश्य प्रपंच का तथा विविध विषय सुखों का बीच (संस्कार) मन में ही छिपा रहता है, इसीलिये मन का त्याग करन से मनोनिर्मित एवं मनोदर्शित संसार का त्याग सिद्ध होता है। जहाँ मन है वहीं अपने मन का रचा हुआ प्रगट या गुप्त संसार है, जहाँ मन के परे रहने वाले पुरुष ही पूर्ण त्यागी हैं। जो संसार में अपना कुछ भी नहीं मानते वही पूर्ण त्यागी हैं। कामना से रहित होकर जो परहितकारी कर्मों में प्रवृत्त हैं वही पूर्ण त्यागी हैं।

जो अहंकाररहित होकर सम्पूर्ण वासनाओं का त्याग करता है और सत्याधार को आत्मसमर्पण कर देता है वहीं पूर्ण त्यागी है। त्याग का आरम्भ सबसे अधिक निकटवर्ती प्रिय वस्तुओं के प्रति आसक्ति या ममता के छोड़ने से ही हुआ करता है। संसार के देहादिक पदार्थों के प्रति अथवा सुखद सम्बन्धियों के प्रति जो कोई ममता, राग तथा अभिमान नहीं करता वही त्यागी

है।

जो परमार्थ तत्व के अतिरिक्त संसार में कुछ भी देखने की इच्छा नहीं रखते, जो परमार्थ तत्व के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही सुनना चाहते, जो परमार्थ तत्व के बाधक पदार्थों का कहीं भी संचय नहीं करते वही पूर्ण त्यागी है।

संसार की विविधि भोगवासनायें, कामनायें, इच्छायें जीव को बन्धन में डालती हैं, अतः साधन-संयम से जो मनुष्य सदा के लिये इसका त्याग करता है वह पूर्ण त्यागी है। जब संसार से कुछ न चाहो तब संसार ऐसे त्यागी को सब कुछ देने लगता है, उस अवसर पर जो संसार की दी हुई सर्वस्व की भेंट को भी त्याग करता है, वही आदर्श त्यागी है।

मनसा त्याग ही सच्चा त्याग है

कोई ऊपर से गृह-ग्राम, स्वजन-सम्बन्धी, जाति-कुल का त्याग करके दूर चला जाये तो उसे त्यागी नहीं कह सकते, क्योंकि वह दूसरे गृह-ग्राम में नवीन सम्बन्ध जोड़कर रह सकता है।

कोई शरीर और इन्द्रियों को स्थूल विषयों से या विविध पदार्थों से अलग रक्खे, यह भी वास्तविक त्याग नहीं है; क्योंकि देहेन्द्रियों को विषयों से या सुखद पदार्थों से अलग कर लेने पर भी मन से उन्हीं विषयों और पदार्थों का चिन्तन होता रह सकता है। इसीलिये देहिन्द्रयों के परे अपने मन और बृद्धि को विषय-चिन्तन से विरक्त कर लेना ही सच्चा त्याग है। जो अहंकारयुक्त भोगमय जीवन से ऊपर उठ जाय वही सच्चा त्यागी है।

किसी व्यक्ति को या किसी भी वस्तु को अपना मानने से ही उसके प्रति अपनत्व का अभिमान होता है और अभिमानवश ही राग-द्वेष के चक्कर में नाचना पड़ता है। अतः जो एकमात्र अपने परम प्रेमास्पद प्रभु की ओर बढ़ने के लिये जगत् के मान, बड़ाई और महत्वाकांक्षा का त्याग करता है वही पूर्ण त्यागी है। अविचारवश मनुष्य जिन छोटे-छोटे बाहरी विलासों के कारण न जाने कितने बल को, हर्ष को सदाचार एवं पवित्र भावों को, और अपने अमूल्य समय को व्यर्थ ही नष्ट करता रहता है, उन विलासों का जो त्याग करता है, वह भी आदर्श त्यागी है।

संसार के जितने सुख हैं, उन्ही के प्रलोभन में मनुष्य संसार के समक्ष दरिद्र बनकार हाथ फैलाता है, और दीन होता है। उन्ही प्रलोभनों का जो कोई त्याग करता है वही सच्चा त्यागी है। बाहरी त्याग से तो अनेक रागी और त्यागी धोखा खा रहे हैं।

जो संसार में अनुरक्त, भोगासक्त हैं उनके अनेक लक्ष्य होते हैं। लेकिन जो संसार के भोग-सुखों से पूर्ण विरक्त हैं उनका एक ही सत्य लक्ष्य होता है। अपने परमलक्ष्य के अतिरिक्त जो किसी ओर नहीं देखता वही पूर्ण त्यागी है।

इस संसार में किसी भी नाम रूप के साथ विहरनेवाले जीवात्मा के अंतःकरण में यदि सुखलोभ से वासनापूर्ति की प्यास तथा भोगों की भूख न रह जाय तो वह संसार में रहते हुए भी मुक्त पुरुष कहा जाता है, और उसका जीवन लोक कल्याणार्थ ही होता है। सांसारिक सुख-भोग की वासनापूर्ति करने की जो विविध कामनायें हैं, वही समस्त बन्धनों तथा दुःखों की जननी हैं।

सद्-असद् विवेक न होने के कारण ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है, कामनाओं की उत्पत्ति से ही दुःख होता है और जब उनकी पूर्ति होती है तभी सुख होता है। कामनाओं का पूर्ति-जनित सुख स्थायी नहीं होता; क्योंकि कामनाओं की पूति से क्षणिक तृप्ति तो होती है, परन्तु तुष्टि नहीं होती। इसीलिए कामनाओं की उत्पत्ति बार-बार होती रहती है, और उत्पत्ति जनित दुख शमन के लिये बार-बार पूर्ति करनी पड़ती है। कामनाओं की पूर्ति करते-करते जीवन थक जाता है, शक्तिहीन होकर नष्ट हो जाता है, परन्तु तब तक तुष्टि नहीं होती जब तक कामनाओं की निवृत्ति नहीं हो जाती।

कामनाओं की निवृत्ति सद्-असद् विवेक से होती है और तभी स्थायी शान्ति तथा आनन्द की प्राप्ति होती है। अज्ञानी की करोड़ों कामनायें रहती हैं, कामनाओं की उत्पत्ति और पूर्ति बार-बार होती है, इसीलिए अज्ञानी कामावर्त में फँसकर दुःख-सुख के झोंकों में झूलते-झूलते थक जाता है। अतः कामनाओं का त्याग होने पर ही मनुष्य स्वस्थ होता है।

कामी सदा अस्वस्थ रहता है और शक्तिहीनता के कारण प्रकृति की उन्ही शक्तियों की शरण लेता है जिनसे उसकी शक्तिलाभ की आशा होती है। यह उन्हीं शक्तियों की दासता में बँधा हुआ कठिन से कठिन श्रम करते हुए जीवन व्यतीत करता है, परन्तु सत्य-शान्ति के सरल मार्ग को नही पकड़ता।

कामी अपने श्रम के परिणामस्वरूप, कदाचित् बन जाने वाले पुण्यों के बल से ही कामनाओं की पूर्ति में सुख का क्षणिक दर्शन कर पाता है। परन्तु फिर बार-बार सुख के पश्चात् दुःख के ही दर्शन करने पड़ते है और ऐसा करते-करते जब कभी उसकी विचार दृष्टि खुलती है तभी उसे त्याग का वह द्वार दिखाई देता है, जो स्थायी आनन्द की ओर ले जाता है। आनंद के इस त्याग रूपद्वार को कामी अज्ञान अन्धकार के कारण देख ही नहीं पाता।

कामनाओं की पूर्ति करते हुए कोई मनुष्य करोड़ों वर्ष भी जीवित रहे,

तब भी उसे आत्यान्तिक तुष्टि तथा परम शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती, लेकिन यथार्थ ज्ञान के द्वारा कामनाओं का जो कोई त्याग कर दे, उसे तत्काल ही परम शान्ति की अनुभूति हो सकती है।

जो मनुष्य सत्संग का सुअवसर प्राप्त नहीं कर सके हैं उन्हें तो कामनाओं की पूर्ति ही जीवन का लक्ष्य प्रतीत होती है। वे जब कामानाओं की पूर्ति करते करते थक जायेंगे फिर भी सुख से तुष्टि न होगी, तब कामनाओं की निवृत्ति के विषय में ज्ञान की बात सुनेंगे।

ध्यान देकर समझने की बात है कि यद्यपि पुरुषार्थ के द्वारा उपार्जित धन और धर्म के बल से कामनाओं की पूर्ति में अभिलषित सुख भोगा जा सकता है, परन्तु कहाँ तक कोई पुरुषार्थ द्वारा पुण्य बल संचित कर सकेगा?और फिर चाहे कोई रावण के समान अथवा हिरण्यकशिपु के समान महान् ऐश्वर्य, वैभव, बल प्राप्त कर ले, फिर भी इस संसार के किसी पदार्थ से परम शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। संसार में एक से एक बढ़कर बुद्धिमान, बलवान्, धनवान्, जनवान्, ऐश्वर्य-वैभववान् और अनेक विचित्र शक्तियों से सम्पन्न प्रतापी पुरुष हुए, सबने कामनाओं की पूर्ति से मन का माना हुआ सुख प्राप्त किया, पर तुष्टि एवं परम शान्ति किसी को भी न मिली। तब उन क्षुद्रबुद्धिवाले अभागे मनुष्यों की चेष्ठा को क्या कहा जाय, जो पुण्यवान् भी नहीं है, फिर भी अपनी क्षुद्र शक्ति, सम्पत्ति का गर्व करते हुए, कामनाओं को तृप्त करने की धुन में अस्त व्यस्त हो रहे हैं। और धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य, सत्यासत्य का भी विचार नहीं करते; यह उनका दुर्भाग्य नहीं तो क्या है! बुद्धिमान का कर्तव्य यही है कि अर्थ प्राप्त करके धर्म करे और धर्म के फल से अपनी भाग्यस्थिति के अनुसार कामक्षेत्र की रुचियों को उचित पूर्ति करते हुए उनके परिणाम का और उनके अंतर-बाह्यरूप का ज्ञान प्राप्त करे।

ज्ञान के द्वारा तप और त्याग का आश्रय लेकर कामक्षेत्र के ऊपर शासनाधिकार प्राप्त करते हुए शक्तिमानू होकर अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर ले। यही है मानव जीवन का परम लक्ष्य, जहाँ मनुष्य ही पहुँच सकता है। जागृत मनुष्य को इसकी प्राप्ति के लिये सतत् प्रयत्न करना चाहिये।

त्याग से ही अभ्युदय होता है

परमार्थ के पथ में यदि किसी की प्रगति होती है तो त्यागी की ही। जिन्हें अपने सत्य लक्ष्य को प्राप्त करने की सच्ची लगन है, वे संसार में

रागवश कुछ भी संचय नहीं करते, बल्कि जो कुछ संचित है, उसका त्याग करते रहते हैं। सच्चे त्यागी संसार में कुछ भी नवीन नहीं सुनना चाहते, वे कुछ भी नवीन नहीं देखते एवं किसी भी सांसारिक पदार्थ को प्राप्त नहीं करना चाहते, बल्कि जो कुछ सुना है, जो कुछ देखा और और जो कुछ प्राप्त किया है उसे परमार्थ सिद्धि के पथ में अग्रसर होने के लिये भूलते जाते हैं। सच्चे त्यागी संसार का सब कुछ संसार को ही वापस कर देते हैं, तभी वे अपने लक्ष्य की ओर गतिशील होते हैं। परमार्थ लाभ की ओर उन्मुख होकर भी जो व्यक्ति संसार में ही नये-नये सम्बन्धों को बढ़ाता है, नवीन वस्तुओं की ओर देखकर प्रलोभित होता है, उनकी प्राप्ति में हर्षित होता है, तथा विविध वस्तुओं का संग्रह करता जाता है, वही अपने परम लक्ष्य पथ में तब तक रुकता रहता है जब तक त्याग भाव को पूर्णतया चरितार्थ नहीं करता।

त्याग का सर्वोत्तम अवसर

यदि किसी को सुसंस्कारवश ऐसा सुयोग सुलभ हो जाय कि युवावस्था में ही इन्द्रिय निरोग और मन को दमन करते हुए समस्त विषय-प्रपंच का त्याग कर सके, तो निःसन्देह जो परम लाभ सैकड़ों जन्म बिता देने पर भी नहीं प्राप्त हुआ, वह एक ही जीवन के थोड़े समय में ही प्राप्त हो सकता है। इसीलिये युवावस्था ही त्याग का सर्वोत्तम अवसर है।

जो विषय-वासनायें और सुख भोग की कामनायें अनन्त कर्मों को उत्पन्न करती हैं, वे युवावस्था में ही अति प्रबल रहती हैं। यदि युवावस्था से ही इन वासनाओं कामनाओं का त्याग बन पड़े तो अति शीघ्रता से मनुष्य मोक्ष के मार्ग में बढ़ जाता है। जो वासनाओं, कामनाओं का भोगी है वही संसार में बँधता है और जो इनका त्यागी है वही बन्धनों से मुक्त होता है। युवावस्था ही त्याग की सर्वोत्कृष्ट अवसर है।

युवावस्था में वही त्याग करने में समर्थ हो सकता है जो यथार्थदर्शी हो, जिसके विचार-चक्षु भलीभाँति खुल गए हों, साथ ही ज्ञानरूपी प्रकाश भी मिल रहा हो, क्योंकि तभी वह असत् पदार्थों से विरक्त और सद्वस्तु में अनुरक्त हो सकता है। यथार्थदर्शी पुरुष के रागद्वेष और तज्जनित मोहावरण दूर हो जाते हैं और ऐसा ज्ञान उदय होता है जिसके द्वारा भीतर छिपी हुई ममता तथा आसक्ति की अनेक सूक्ष्म बन्धन ग्रन्थियों का पता चलता है। जीवन को जन्म-जन्मांतर जकड़े रहने वाली इन ग्रंथियों को खोलना या तोड़ डालना पूर्ण

त्यागी का ही काम है। इसलिये जो कोई भीतर से छूटे वही छूटा (मुक्त) कहला सकता है। बाहर से यदि कोई राज्य, वैभव आदि छोड़ दे, ग्राम नगर आदि से दूर जंगलों में रहने लग जाय, फिर भी राग का त्याग भीतर से न कर सके तो उसे बाह्य त्याग से शान्ति कदापि नहीं मिलने की।

पूर्ण प्रेमी घर में रहते हुए भी त्यागी होता है। वह अपना भार किसी अन्य के मत्थे छोड़कर अपने अधिकार की वस्तुयें दूसरों को देकर नहीं भागता, बल्कि अपने परमाधार प्रभु को ही अपना सब कुछ दे देता है और तत्पश्चात् कुछ भी अपना न मानकार सब कुछ उस एक आराध्य प्रभु का ही जानकर, वह निरभिमान भाव से प्रभु की ही आज्ञानुसार व्यवहार करता रहता है।

प्रेमी अपना सब कुछ परमप्रभु को देकर त्यागी होता है और परमप्रभु को अपने में लेकर अनुरागी होता है। जहाँ त्याग करके भागने की धुन है वहाँ अभी श्रम है, थकावट है और जहाँ त्याग करके बैठने का अवसर है वहाँ पूर्ण विश्राम है, निश्चिन्तता है, यही सुन्दर त्याग है।

ऐसे त्यागी को ही परम प्रेमास्पद प्रभु का योग सुलभ होता है जो सब कुछ त्याग कर देने के पश्चात् शेष रह जाने वाले चिन्मात्र स्वरूप आत्मा की शरण में स्थित रहना जान गया है। यहाँ पर त्यागी पुरुष शान्ति के वातावरण में अटल गम्भीरता तथा पूर्ण शक्ति की शालीनता के साथ परमानन्द का अनुभव करता रहता है। कोई सच्चा त्यागी ही ज्ञानी और प्रेमी होकर इस महान् उद्देश्य को प्राप्त करता है।

यदि आप अपने परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये किसी प्रकार की साधना करते हुए भी विविध सांसारिक सुख-कामनाओं और वासनाओं का त्याग नहीं कर पाते, तो आपके अभीष्ठ सत्य लक्ष्य तक पहुँचना अतिदुष्कर होगा, क्योंकि सांसारिक भोग-सुखों की कामनायें वासनायें जीव को बलात् भोगासक्त बनाती हैं। इनके त्याग से ही सत्य का विकास होता है और इसी शक्ति से 'पथिक' गन्तव्य पथ पर अग्रसर हो सकता है। भोगी मनुष्य का मन कहीं स्थिर नहीं हो सकता, वरन् द्वन्द्वाघातों के कारण सदैव डावांडोल स्थिति में रहता है, इसी से भोगी के मन में विश्वास कभी दृढ़ नहीं हो पाता। उसका उत्साह परमार्थ में सर्वदा मन्द रहता है। सुखभोगों का रागी मनुष्य अपने स्वार्थ-सुख की सिद्धि के लिये समय-समय पर अपने श्रद्धास्पद उपास्य देव से भी मुँह फेर लेता है और अपने मन का प्यार-दुलार करते हुए उनसे चोरी भी

करता है। इन्ही सब दुर्भावों के कारण अन्त जीवन में दैवी, आसुरी प्रकृति के बीच ऐसा संघर्ष चलता रहता है कि जिसके कारण रागी साधक पर विविध व्याधि-व्याधियाँ अन्यान्य विरोधी आक्रमण अधिक होते हैं। पूर्ण त्याग न हो सकने के कारण ही अधिकाँश साधक शक्ति एवं परम शान्ति से वंचित रहा करते हैं।

शरणागति में पूर्ण त्याग

सांसारिक सुख-वासनाओं का त्याग तब तक कठिन है जब तक मन एवं प्राण के क्षेत्र से इनकी स्वीकृति होती रहती है और स्वीकृति तब तक होती है जब तक भोगलोलुप अहं को सत्-असत् का विवेक नहीं होता, सद्-विवेक जागृत होने पर यह अहं जब अपने क्षुद्र स्वभाव से ऊपर उठकर वासनाशून्य हो जाता है तभी आत्मसमर्पण सिद्ध होता है। आत्मसमर्पण की दशा में यह अहं अनेक का नहीं बना रहता, प्रत्युत सबका त्याग करके एक ही की शरण ग्रहण करता है; तभी उसे पूर्ण शान्ति और स्थिरता प्राप्त होती है।

जहाँ त्याग के द्वारा जीवन की सर्वोत्कृष्ट शुद्धि है, वहीं सुन्दर सद्बुद्धि है, जहाँ सद्बुद्धि है वहीं सत्-असत् का ज्ञान होता है। ज्ञान होने पर ही सत्य की महान् महिमा का भान होता है और तभी उस सत्स्वरूप का सतत ध्यान होता है, ऐसे ध्यान की तन्मयता में त्यागी अहंभाव का भी त्याग कर देता है। उपर्युक्त त्याग की पूर्णता के लिये ही किसी ने कितना सुन्दर कहा है कि :-

मुझमें तेरी रजा रहे, और तू ही तू रहे।
बाकी न मैं रहूँ, न मेरी आरज़ूरहे।।

भय कैसे मिटे?

भयभीत जब निर्भय की शरणागत हो तभी वह भयरहित हो सकता है। जहाँ भय है वहाँ अवश्य ही निर्बलता है, जहाँ निर्बलता है वहाँ अवश्य ही भोगमय स्वार्थी जीवन है, अतः जो संसार में भोगी है वही भयभीत है और वह योगी होकर ही परम शक्तिसम्पन्न तथा पूर्ण निर्भय हो सकते हैं। किसी से भयभीत होना उसके लिये तब तक मार्ग खुला रखना है जब तक कि उससे निर्भयता प्राप्त न कर ली जाय। निर्भयता तभी प्राप्त होती है जब दिव्य शक्तियों की जागृति होती है। दिव्य शक्तियाँ तभी जागृत होती है जब परम

शक्तिमान् परमात्मा का योगानुभव होता है, योगानुभव तभी होता है जब पूर्ण शरणागति होती है। जो शरणागत है वही भयरहित है। अभय होने के लिए या तो निर्भय की शरण लो या फिर जिन वस्तुओं के संग से भयभीत हो उन वस्तुओं की संगासक्ति का त्याग करो। संसार से असंग और सत्य के संग रहकर ही अभय हो सकते हो।

प्रायः मनुष्य यही कहते हुए मिलते हैं कि हम न्याय, धर्म एवं स्वकर्तव्यादि को जानते हैं, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई बलात्कार से अन्याय, अधर्म तथा अकर्तव्य-पथ में ढकेल देता है। ऐसा कहने वाले समझ लें कि वे केवल बुद्धि द्वारा ही जानते हैं और केवल मन द्वारा ही इन्द्रियों के सहारे कर्म करते हैं। भेद यही पड़ता है कि जानने वाली ब ुद्धि करती नहीं और करने वाला मन जानता नहीं।

यदि जानने वाली बुद्धि की सम्मति से ही करने वाले मन की प्रत्येक क्रिया हो तभी ज्ञान के अनुसार कर्म हो सकते हैं, परन्तु जहाँ क्रम ही उलटा चल रहा हो वहाँ परिणाम सुन्दर कैसे हो सकता है। विचार-दृष्टि से देखिये तो आपको कोई शक्ति बलात् विषय-विकारों से नहीं फँसाती। वह आप ही की लीला है कि सुख की लालसावश आपका अहंभाव मन की प्रेरणा से विविध विषयों का भोग करता हुआ अपनी कामनाओं वासनाओं को पूर्ण कर रहा है और भोगोपरान्त किसी दुखद परिणाम के उदय होने पर बुद्धि के स्तर से केवल कथन मात्र द्वारा घृणा या विरोध प्रगट करता है।

समझ में आये या न आये लेकिन यह सत्य है कि अपने बाँधने और छुड़ानेवाले आप स्वयं है। अज्ञानी होकर आप ही बँधे हैं; अतः ज्ञानी होकर आप ही मुक्त भी हो सकते हैं।

आदर्श उत्तमता

बाल्यावस्था वही उत्तम है जो निरर्थक क्रीड़ाओं एवं संगदोषवश व्यसन-वासनाओं की पूर्ति में भ्रष्ट न होकर विद्याध्ययन में सार्थक हो।

युवावस्था वही उत्तम है, जिसकी शक्ति से सद्गुणों का विकास हो, सद्ज्ञान का सुन्दर प्रकाश हो। सदाचरण की ही रक्षा हो, और धर्मपथ में चलते हुए सत्यानन्दधन प्रियतम की प्राप्ति ही लक्ष्य हो। अशुभ कर्मों की ओर प्रेरित हुई इन्द्रियों का दमन हो, दुर्विकारों का शमन हो तथा विषयों का वमन हो और शुभ कर्मों के लिये ही सदा तत्पर मन हो। जिसकी शक्ति से विषय

वासनाओं के पथ में चंचल हुए मन का निरोध हो, स्वेच्छाचारिता का विरोध हो।

वृद्धावस्था वही उत्तम है, जिसमें सांसारिक पदार्थों के प्रति मोहममता का त्याग हो केवल परमात्मा में ही अटल अनुराग हो। ऐहिक सुख-भोगों की तृष्णा पर क्रोध हो, बहिर्वृत्तियों का अवरोध हो और सत्यासत्य का यथार्थ बोध हो।

बलवान् वही उत्तम है जो निर्बलों, असहायों की सहायता करने में शूर हो, जिससे आलस्य तथा भय सर्वथा दूर हो। संयम जिसके साथ में हो, इन्द्रियरूपी घोड़ों की मनरूपी लगाम जिसके हाथ में हो। इसके साथ ही जो बुद्धिमान् हो और निरभिमान हो।

धनवान् वही उत्तम है, जो कृपण न होकर दानी हो, उदार हो; जिसके द्वारा धर्मपूर्वक न्यायोक्त व्यापार हो। जिसके द्वार पर अतिथि का समुचित सत्कार हो, दीन-दुखियों का सदा उपकार हो। जिसके यहाँ विद्वानों एवं साधु-महात्माओं का सम्मान हो, जो स्वयं अति सरल और मतिमान् हो।

बुद्धिमान् वही उत्तम है, जिसमें अपने माने हुए ज्ञान से निराशा हो, यथार्थ सत्य के प्रति सच्ची जिज्ञासा हो। सद्गुरुदेव के प्रति पूर्ण निर्भरता हो और उन्हीं की आज्ञापालन में सतत तत्परता हो।

ज्ञानी वही उत्तम है, जिसकी बुद्धि से प्रवृत्ति-पोषक अज्ञान दूर हो, निवृत्तिद्योतक भक्ति भरपूर हो, भवभ्रान्ति नष्ट हो, परम शान्ति स्थिर और स्पष्ट हो। जिसके जीवन में मुक्ति विद्यमान हो और परमानन्दमय परमात्मा की व्यापकता का सर्वत्र भान हो। जो क्रोध, अभिमान, माया आदि दुर्गुणों से रहित हो। जिसके समीप में शान्ति का वास हो, जिसके शब्दों से भ्रान्ति का नाश हो। जो पूर्ण त्यागी, वीतरागी हो और परमात्मा का ही अटल अनुरागी हो।

त्यागी वही उत्तम है, जिसका मन भोग-वासनाओं से सदा वियुक्त हो। जिसका अहं देहाभिमान से मुक्त हो। जिसमें किसी भी पदार्थ के प्रति अपनत्व न रहे। जो किसी को भी अपना न कहे। विचार की धारा में जिसकी आसक्ति, ममता बह जाय। जो नित्य है उसके सिवाय जहाँ अन्य कुछ भी न रह जाय।

प्रेमी वही उत्तम है जो आनन्दधन प्रियतम में सदा योगस्थ रहे और संसार-प्रपंच से सदा तटस्थ रहे। जहाँ प्रेमास्पद का स्वभावतः सतत् ध्यान रहे, अपनी सुधबुध में उन्ही का गुणगान रहे और प्रत्येक दशा में 'वही एक अपने हैं' केवल यही अभिमान रहे।

परमार्थ-पथ के पथिक का कर्तव्य

जो व्यक्ति संसार के दुखों से घबराकर शक्ति और शान्ति की प्राप्ति के लिये सन्त-सद्गुरु का आश्रय लिये बिना प्रयत्न करते हैं, वे महान् भूल करते हैं और इस भूल के परिणाम में कभी न कभी भयानक हानि उठाते हैं और अन्त में सन्त-सद्गुरु की शरण में आकर ही शान्ति का सुगम पथ प्राप्त करते हैं। जिस मनुष्य के हृदय में सन्त-सद्गुरुदेव के प्रति श्रद्धा नहीं होती वह निस्सन्देह अभिमानी प्रकृति के दासत्व में बँधा हुआ मनुष्य है, या तो उसे अपने ज्ञान की पूर्णतया का झूठा गर्व है या उसे अपनी सीमित शक्ति पर भरोसा है। जब तक सन्त-सद्गुरु की आज्ञा-पालन में सुरूचि एवं श्रद्धा नहीं होती तब तक मनुष्य स्वेच्छाचारिता रूपी भयानक दोष से मुक्त नहीं हो सकता। इस दोष के रहते हुए मनुष्य में किसी भी प्रकार के जप, तप, व्रतादि शुभ कर्मों द्वारा वास्तविक शान्ति न प्राप्त होकर उल्टे अभिमान की वृद्धि होती हैं।

कद्राचित शुभ कर्मों के द्वारा कुछ शक्ति प्राप्त हुई तो अपने स्वच्छन्दतारूपी दोष के कारण मनुष्य उस प्राप्त शक्ति का मनमाने ढंग से उपयोग करते हुए प्रायः भोगी ही बनता है, योगी नहीं।

ऐसे स्वेच्छाचारी मानव- जिनका पथ-प्रदर्शन सद्गुरुदेव के द्वारा नहीं होता- अपने किसी प्रकार के तप-त्यागादि के द्वारा जहाँ शक्ति की ओर बढ़ते हैं वहीं मानव-समाज की ओर बढ़ते है। वहीं मानव-समाज की ओर से प्राप्त हुआ 'मान' उनके मन को इस प्रकार मुग्ध कर लेता है कि वे अपने त्याग-पथ में चलना भी भूल जाते हैं।

किसी भी त्यागी तपस्वी के लिए मानव-समाज की ओर से प्राप्त होनेवाला 'मान' वाहनरूपी हाथी की तरह है, जिस पर त्यागी तपस्वी बड़े उत्साह और हर्षोल्लास के साथ बैठता है, लेकिन उसे यह ज्ञान नहीं होता कि मानरूपी हाथी पर बैठते ही मद्रुपी महावत उसे उसी प्रपंचमय जगत् की ओर किस प्रकार ले जाता है, क्योंकि मानरूपी हाथी पर बैठकर परमार्थ के अत्युच्च पर्वतीय पथ पर कोई चढ़ ही नहीं पाता। परमार्थ-पथ के उच्च

सोपानों में तो सरलतारूपी पगडंडी से होकर पैदल चलना पड़ता है।

बुद्धिमान मनुष्यों! यदि आप वास्तव में परम शान्ति चाहते हैं, यदि आप लाखों वर्षों से पूरे न होने वाले कार्य को इस जीवन के कुछ वर्षों में, महीनों में पूरा करना चाहते हैं तो सन्त-सद्गुरु की शरण में रहकर उनकी आज्ञानुसार कर्तव्यों का पालन कीजिये। उनके शब्दों को सुनिये, ध्यान दीजिए, मनन कीजिये यदि आप परमार्थ के पथ में कहीं रूकना नहीं चाहते हैं तो संसार के तुच्छ पदार्थों में सुख न मानियें, क्योंकि उन सुखों से ही सभी प्रकार के दुःख उत्पन्न होते रहते हैं।

आप भविष्य की चिन्ता में चिन्तित रहकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनावश्यक संचय भी न कीजिए, क्योंकि उससे संचित की रक्षा की चिंता बढ़ेगी और कदाचित् संचित वस्तु का नाश हुआ तो उसका दुःख भोगना पड़ेगा।

आप अपने व्यावहारिक जीवन में बहुत लोगों से अनावश्यक स्नेह भी न बढ़ाइये, क्योंकि अधिक लोगों के स्नेह से शक्ति और समय दोनों का अपव्यय होता है, इससे परमार्थी की प्रगति में रूकावट होती है।

आप यदि वैभव, ऐश्वर्यमय प्रारब्ध के बीच से चल रहे हैं। तो विलासिता की वृद्धि न होने दीजिए, क्योंकि इससे परार्थ और परमार्थ की ओर ले जाने वाली शक्ति का ह्रास होता है।

आप कर्म कर्तव्यकर्मों में आलस्य न कीजिए, क्योंकि इससे समय और शक्ति का दुरुपयोग होता है, साथ ही जीवन में सच्ची शान्ति और पूर्ण विश्राम की कभी प्राप्ति नहीं होती।

आप अपने परम लक्ष्य को भूलते हुए कभी प्रमादी न बनिये, क्योंकि इससे विपरीत ज्ञान के कारण कुपथ में पतन होता है। आप अनियमित निद्रा, विशेष आहार को भी स्थान न दीजिये, क्योंकि इससे तमोगुणी भावों का पोषण होता है, और दूषित द्रव्यों का सन्चय होकर व्याधि उत्पन्न होती है।

आप इन्द्रियों के विषयों में भी सुखासक्त न होइये, क्योंकि विषयासक्ति ही विरक्त नहीं होने देती, और विषय-विरक्ति के बिना सत्यानुरक्ति नहीं होती। जहाँ पर आपका मान बढ़ रहा हो, जनसमुदाय की ओर से प्रतिष्ठा और देश में ख्याति बढ़ रही हो, वहीं से आप इन बातों के प्रति उदासीन रहते हुए किसी को महत्व ही न दीजिये, क्योंकि अपनी प्रतिष्ठा,

ख्याति आदि को महत्व देने से आप उस सर्वोपरि महान् प्रभु की महिमा का दर्शन न कर सकेंगे।

आप इस संसार की प्रभुता एवं सुन्दरता और स्त्रियों के प्यार-मनुहार में मुग्ध होकर उनके भोगी न बनिये; क्योंकि भोगी को सत्य के योग की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है।

आप परमार्थ-पथ में बढ़ते हुए किसी प्रकार के चमत्कारों एवं सिद्धियों की प्राप्ति होने पर अपने परम लक्ष्य को कहीं न भूलिये, क्योंकि इनके संयोग से अहंकार की वृद्धि होती है ऊपर जितनी बातों के लिये सावधान रहने का निर्देश किया गया है, यह सभी बातें परमार्थ-पथिक के आगे आती ही है और प्रायः हर एक पथिक इन्ही प्रसंगों में अपने गन्तव्य-पथ से विचलित हो जाते हैं, जानते-समझते हुए भी प्रलोभन में पड़ जाते हैं। कोई बिरले वीर पुरुषार्थी व्यक्ति जो सद्गुरु के शरणापन्न हैं उन विघ्नों पर विजयी होते हैं।

जब आप जप, तप, व्रतादि साधन करते हुए भी अपने मन को विकाररहित, स्थिर न पाते हों; जब आपका कल्याण वास्तविक रूप में न हो रहा हो, तब विचार कीजिये कि उन्नति क्यों नहीं होती अथवा सन्त-सद्गुरु के समीप ही अपनी रुकावट के कारण को समझ लीजिये। उन्नति पथ पर जो कोई भी रुका है वह अपनी योग्यता की कमी के कारण ही रुका है। वस्तुतः विशुद्ध ज्ञानोदय होने पर ही मनुष्य परम लक्ष्य को पा सकता है। विशुद्ध ज्ञान की पूर्णता परम प्रेममय भक्ति के बिना नहीं होती। भक्ति के बिना जो ज्ञान है, वह शून्य एवं नीरस ही रहता है। यह अच्छी तरह समझ लीजिये कि अपने कल्याण के लिए सन्त संग के समान अन्य कोई बलवान् साधन नहीं। सन्त-सद्गुरुदेव के ध्यान के समान चित्त की एकाग्रता का अन्य कोई सुलभ उपाय नहीं और सेवा परहित के समान आत्म-शुद्धि का अन्य कोई सरल कर्तव्य नहीं। बैठे-बैठे या विष्योन्मुख होकर इधर-उधर दौड़ते हुए किसी प्रकार की युक्तियों के द्वारा कल्याण की कल्पना करते रहना जीवन में धोखा खाना है। इसलिये प्रमाद रहित होकर कल्याणकारी कर्मों को कीजिये।

शारीरिक दुखों को देह का धर्म समझिये, मानसिक दुखों को मन का स्वभाव समझिये, और हर दशा में प्रत्येक क्षेत्र की वेदानुभूति में समस्थित रहिये। विचारपूर्वक शान्त और गम्भीर रहकर जो कुछ भी आये या जाये उसे अपने ही कर्मों का फल समझकर देखते चलिये।

परमार्थ के पथ में चलते हुए उन व्यक्तियों की निन्दा न कीजिये जो

सन्मार्ग में नहीं चल रहे हैं, किसी को तुच्छ समझकर उससे घृणा न कीजिये, क्योंकि यह सब क्षुद्र अभिमान की पोषक बातें हैं। जो वास्तव में सच्चा और भला मनुष्य है वह दूसरों की निन्दा नहीं करता।

क्षुद्र प्रवृत्ति के अभिमानी व्यक्ति परमार्थ के पथ में शान्तिपूर्वक यात्रा नहीं कर सकते।

किसी को कर्तव्य-विमुख एवं तुच्छ समझकर जो कोई उससे घृणा करता है, वह अवश्य ही अपनी श्रेष्ठता, महत्ता का अभिमानी है। इसीलिये जाग्रत् पुरुषों की तो यही सम्मति है कि -

'जो मन भावे सो करे भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठि कै, अपनो भवन बुहार।।

आप अपने मन में सद्‌भावों की अभिवृद्धि के लिये सभी से विनीत होकर सार्थक व्यवहार, वार्तालाप कीजिये।

यदि आप सरलतापूर्वक विनयभावयुक्त आचरण रक्खेंगे तो आपकी बुराई करनेवाले भी तब तक आपकी हानि नहीं कर सकते जब तक आप उनसे द्वेष-भाव रखकर बदला लेने को तत्पर न हो जावें। यदि आप अपने विनयभाव एवं सहनशीलता और क्षमा के व्रत पर अविचल धैर्यपूर्वक स्थिर रहेंगे तो कुछ दूर पर ही आपको अनुभव होगा कि अदृश्य शक्ति किस प्रकार आपकी सहायता करती है।

अपने लक्ष्य पथ में निराशा से तो बहुत ही सावधान रहिये, कहीं यह धक्का देकर आपको पीछे न हटा दे। निराशा साधक को एक ऐसे अन्धकार में पटक देती है जहाँ कुछ सुझाई ही नहीं देता, यह आलस्य की ऐसी मदिरा लिये रहती है कि मनुष्य इसका स्वागत करते ही कर्तव्यपरायणता से विमुख होकर अनावश्यक विश्राम लेने लगते हैं। निराश ही होना है तो संसार के पथ में जाते हुए निराश होइये लेकिन परमार्थ के पथ में किसी भी गुण-विकास के लिये निराश न होइये।

ध्यान रहे! जहाँ पर आपको ईर्ष्या, द्वेष, अथवा क्रोध आता है जहाँ पर आपको सम्मान या अपमान प्रतीत होता है, वहाँ आपकी उन्नति के शुभ अवसर हैं। इन्ही अवसरों पर सावधान होकर आप अपने दुर्गुणों को मिटाकर, सद्‌गुणों को सबल कर सकते हैं। आसुरी स्वभाव के अभ्यास को दैवी स्वभाव के अभ्यास द्वारा ही मिटाया जा सकता है, अतः जहाँ दुर्गुणों के

उत्पन्न होने का अभ्यास है वहाँ उनको दबाने का अभ्यास कीजिए, सद्‌गुण स्वयमेव सबल हो जायेंगे।

सद्‌गुण ही बुद्धिमानों की अलौकिक सम्पत्ति है, यही उनकी दिव्य शक्ति है।

यदि आपकी प्रकृति क्षुद्र है, नीच कोटि की है तो दूसरों से सम्मान पाने में, दूसरों से सेवा लेने में और दूसरों की शासनाधिकारी स्वामी होने में आपको अत्यधिक सुख प्रतीत होगा।

यदि आपकी प्रकृति महान् है, उच्चकोटि की है तो दूसरों को सम्मान देने में, दूसरों की सेवा करने में तथा सुखाधिपत्य के त्याग में ही आपको आनन्द प्राप्त होगा।

यदि आप सहनशीलता और क्षमा के द्वारा अपने अपमान करने वाले की निन्दा या हानि न सोचेंगे तो आपमें तप, बल और तेज की वृद्धि होगी। सहनशीलता और क्षमारूपी सद्‌गुण किसी बुद्धिमान तपस्वी में ही मिला करते हैं। सबमें नहीं।

जैसे-जैसे अहंकार घटता है वैसे-वैसे ही मनुष्य में सहनशीलता और क्षमा भाव की वृद्धि होती जाती है। जितना अधिक अहंकार मनुष्य में बढ़ा हुआ होता है और अपमानित होने पर उतना ही अधिक उसे दुःख होता है। घमण्डी पुरुष बहुत ही परतन्त्र होता है, वह दूसरों पर अधिक अवलम्बित रहता है और प्रशंसा को अमृत की तरह पीता है, तभी निन्दा विष की भांति लगती है।

विनयभाव धारण करने से परम योग्यता की प्राप्ति होती है प्रत्येक गुण की नींव विनय है। दूसरों की बुराई न करना उच्चकोटि की सभ्यता है। मन के मौन होने में ही यथार्थ शान्ति है।

पवित्र हृदय कोमलता, दया एवं प्रेम से परिपूर्ण होता है, इसी लिये उसमें ईर्ष्या द्वेष के लिये स्थान ही नहीं रहता।

दूसरे के वचनों से जब तक आपकी प्रकृति दुखी होती है तब तक यही समझो कि आपकी प्रकृति में अभी निर्बलता है, अपवित्रता है और आत्मसंयम अथवा दमन का अभाव है। यदि दूसरे व्यक्ति अपने कामों को भली भाँति नहीं करते तो उनकी सहायता करो। दूसरे तुम पर व्यंग आक्रमण करें, तो तुम उस समय मौन साध जाओ। दूसरों के लिये ऐसे वचन न निकालो जिससे

उनको दुख हो और अश्रु बरसें।

यदि मूर्खों से काम पड़ जाय तो छेड़े जाने पर भी चुपचाप रहना परिपक्व गम्भीरता एवं सहानुभूतिपूर्ण होने के चिन्ह हैं। किसी सन्त ने बहुत अच्छी सम्मति दी हैः-

मूरख का मुख बाँबिया, निकसत बचन भुजंग।
ताकी औषधि मौन है, विष नहिं व्यापत अंग।।

मूर्ख में नम्रता नहीं होती इसीलिये उसमें ज्ञान नहीं होता और अहंकार से उन्मत्त होकर अकरणीय कार्यों को करते हुए अपने ऊपर पापभार को लादता जाता है, अन्त में महादुख को प्राप्त होता है।

मनुष्य का ज्ञान जैसे-जैसे असीम सत्य की ओर बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे उसके जीवन में और कार्यों में महत्ता बढ़ती जाती है। ज्ञान के अनुरूप ही मनुष्य का जीवन होता है और कार्य होते हैं। कोई भी मनुष्य इसलिये कामी, लोभी, मोही और क्रोधी स्वभाव का पक्षपाती होकर जीवन का दुरुपयोग करता है कि उसका ज्ञान अभी त्याग, उदारता, प्रेम एवं सरलता, क्षमा धैर्य और सहनशीलता तक पहुँचा ही नहीं है।

परमार्थ के सात्विक सोपानों में जब पथिक चढ़ने लगता है तब उसके ज्ञान प्रकाश में पवित्रता, प्रेम, अनुकम्पा, धैर्य, विनय एवं निःस्वार्थता आदि दिव्य गुण प्रकाशित होते हैं, इन्ही दिव्य गुणों के विकास में वह वसुधा की विमल विभूति बन जाता है।

बुद्धिमान पुरुष वही है जो संकट उपस्थित होने पर न उनसे मुँह छिपाता है और न उनसे घबराता है; बल्कि गम्भीरता तथा शान्ति के साथ स्थिर रहता है। जितनी कुशलता से आप कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करते चलेंगे उतना ही अनुभव, ज्ञान और विवेक आपको प्राप्त होगा।

आपका परम लाभ इसी में है कि अपने लाभ की सिद्धि का लोभ छोड़कर दूसरों के ही उपकार में अपनी शक्ति का सदुपयोग करते हुए पुण्यमय जीवन बनाइये।

जहाँ अधिक से अधिक संख्या में स्वार्थोपासक मानव अविचारवश स्वार्थ सिद्धि में ही सुख मान रहे हैं, वहाँ उन्हीं के बीच से निकलते हुए आपको निरन्तर त्याग की सिद्धि अपने व्यवहार में बर्तना होगा, इसी के बल

से आप परम शान्ति को प्राप्त कर सकेंगे।

एक बात यह भी ध्यान में रखने की है कि जहाँ पर आपको अपने सुख के लिये दूसरों की ओर से मिलनेवाली सेवाओं को सर्वथा त्याग करते रहना है, वहीं पर कभी-कभी दूसरों के हित के लिये (यदि आपकी सेवा करने से ही किसी में श्रद्धा एवं सद्भावों का विकास होता है, तप और त्याग की वृद्धि होती है तो) उनकी सेवाओं को स्वीकार कर लेना भी आपका त्यागगर्भित कर्तव्य होगा। आप किसी कार्य को यदि विवेक और बलपूर्वक करेंगे तो आपमें अधिकाधिक विवेक एवं बल की वृद्धि होगी, यदि दुर्बलता एवं अविवेकपूर्ण करेंगे तो आप मूर्ख और निर्बल ही बने रहेंगे।

आप चाहे जितने साधारण नगण्य श्रेणी के व्यक्ति हैं परन्तु अपनी वर्तमान शक्ति से यदि अपने छोटे-छोटे कार्यों को सुन्दरता पूर्वक समय पर पूरा करते हैं, कहीं भी आलस्य, प्रमाद को स्थान नहीं देते और आत्मबल से आवश्यकतानुसार त्याग-तक का आश्रय लेकर महत्व को प्राप्त करने में कटिबद्ध तत्पर हैं, तो आप प्रकाशयुक्त जीवन व्यतीत कर रहे हैं, निसन्देह आपके साथ ऐश्वर्य होगा। इसके विपरीत जो व्यक्ति समय-शक्ति के होते हुए अपने छोटे-छोटे कार्यों को भूलते या अवहेलना करते हैं अथवा आलस्य के साथ बिना मनोयोग दिये करते है तो जिस जीवन के द्वारा मानवता में देवत्व प्राप्त होता है उसका वह तिरस्कार करते हैं। फिर वे चाहे जनसमाज में धनी मानी प्रतिष्ठित व्यक्तियों में ही प्रसिद्ध क्यों न हों, किन्तु अन्धकार में हैं और जीवन में महत्व को नही जानते, ऐसी दशा में निःसन्देह पतन निश्चित है।

यदि आप अपने दैनिक व्यवहारों तथा क्रियाओं में सद्विवेक द्वारा दया, क्षमा, सहनशीलता, धैर्य, नम्रता और प्रेम के भावों को ही चरितार्थ करते हैं तो बाहर से साधारण श्रेणी के अकिन्चन व्यक्ति होते हुए भी आप वास्तव में आदर्श सचरित्र सम्पन्न महान् पुरुष हैं। इसके प्रतिकूल जो व्यक्ति ऐश्वर्य, प्रभुता एवं ऊँची-ऊँची उपाधियों तथा बड़े-बड़े माननीय पदों के अभिमानी होकर भोगी है, जो अपने ही स्वार्थ सुख के लोभी हैं, जो दयाहीन तथा क्रोधी हैं, जो सत्य, धर्म एवं सत्कर्म और सत्य ज्ञान से रहित हैं अथवा विरोधी हैं, वह तुच्छ प्रकृति के पुरुष हैं।

यदि आप अच्छी से अच्छी और सुन्दर वस्तुओं के न मिलने पर भी सदा सन्तोषी हैं और अपने पास होने पर दूसरों को देने में उदार हैं, तो निर्धन

होते हुए भी आप आदर्श धनी व्यक्ति हैं, जब कि अनेकों धन के गुलाम, कंजूस होने के कारण करोड़पती होते हुए भी दरिद्र हैं। वास्तव में ऐसे ही व्यक्ति उदार न होने के कारण धनी होते हुये भी निर्धन हैं।

यदि आप निरभिमान होकर सरलता तथा दीनतापूर्वक, सेवा-भाव से संसार में रहते हुए परमात्म-चिन्तन एवं सन्त-सद्गुरुदेव का सत्संग करते रहेंगे तो आपकी कहीं भी रुकावट नहीं हो सकती।

यदि आप पूर्ण तृप्ति की इच्छा रखते हैं तो संसार में किसी से किसी प्रकार की चाह मत रखिये। अपने ही सुख के लिये किसी से प्रेम न कीजिये, परन्तु दूसरों का हित निरन्तर करते रहिये, और इसके बदले में अपनी प्रशंसा की भी इच्छा न कीजिये। ऐसा करने से अपको प्रेम के दैवी दूत घेरे रहेंगे और आपकी प्रकृति को दिव्य प्रेम से ओत-प्रोत कर देंगे। ऐसा होने के लिये आप कठिन से कठिन परीक्षा में भी कटुता अथवा खिन्नता न आने दीजिये, न कहीं पर खीझते हुए कटु शब्दों का प्रयोग कीजिये।

किसी के क्रोध को शान्ति से, उपहास एवं निन्दा को धैर्य से और द्वेष को अपने प्रेम से जीतते चलिये। ऐसा करने से ही आप अपने को महत्ता से अभिभूषित परम शान्तिमय प्रेम के जीवन से सदा के लिये सुरक्षित पावेंगे।

अपने परम लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए शक्ति और समय को व्यर्थ की चेष्टा में, व्यर्थ बातें में कभी नष्ट न कीजिए। अपने सामयिक कर्तव्य को- जिसकी पूर्ति के साधन सामने प्रस्तुत हों- किसी तरह टाल-मटोल किये बिना पूरा करते चलिये। आवेश में आकर उत्तेजित होकर बहुत शीघ्रता भी न कीजिये। वह जल्दबाजी किस काम की जो सफलता न होने देकर थकावट से गिरा दे- इसीलिये जब छलांग मारने का स्थान दूर हो, तो पहले से उछलकूद कर, उस स्थल में पहुँचते-पहुँचते अपने को थका न डालिये।

निरंतर गंभीरता, बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से अपनी सार्मथ्य शक्ति को देखते हुये धैर्यपूर्वक प्रत्येक कर्तव्य को पूरा कीजिये। जो कुछ आप कर सकते हैं उसके लिए किसी से भी सहायता की आशा न रखिये बल्कि जहाँ तक हो दूसरों का भार अपने द्वारा हल्का करते रहिये लेकिन अपना भार दूसरों पर कदापि न डालिये।

आप रात्रि में तभी सुख की नींद में सो सकते है जब दिन में अनाचार भ्रष्टाचार, व्यभिचार, कुविचारयुक्त कुकर्मों से बचे रहकर केवल सदाचार, धर्माचार, सुविचारयुक्त सुकर्मों को ही स्थान देते हैं। इसी प्रकार मृत्यु के बाद आप तभी परम् शान्ति अवस्था प्राप्त कर सकते हैं जब इस अज्ञान अभिमान से भरे हुये देहासक्त सत्य से नितांत विमुख जीवन में, अभिमान रहित होकर सद्ज्ञान एवं परमात्म ध्यान की स्थित को प्राप्त करते हुये पूर्ण विरक्त और सत्य भक्त हो जायेंगे।

आप सन्तों के हजारों उपदेशों को पढ़ें, सुनें लेकिन उनसे वास्तविक लाभ तभी होगा, जब आप उन्हे मनन् करेंगे और व्यवहार में चरितार्थ करेंगे। फिर चाहे वो दो चार वाक्य ही क्यों न हों, उन पर आचरण करने से परम् हित होगा। आप सदा पठन करने की अपेक्षा उपदेशों के मनन् करने में ही अधिक ध्यान दें और शीघ्र फलाशा से व्यग्र न होकर अटूट धैर्य से साधन, संयम में कटिबद्ध रहें। नियम पूर्वक किया हुआ काम सुन्दरता एवं शीघ्रता से होता है और अभीष्ट सिद्ध देते हुये आनन्द का कारण होता है।

आप महात्मा होना चाहते हैं तो सद्गुरु-सतपुरुष की शरण में रहकर सदा सेवा भाव से परहित बुद्धि पूर्वक जीवन बिताइये, सत्धर्म का आश्रय लेकर आहार-विहार में मर्यादा रखकर सद्शास्त्र के सिद्धांतानुसार सन्तों के बताये हुये लक्ष्य पर सदा ही दृष्टि रखिये। प्राणियों के साथ वर्ताव-भाव में बालकवत् सरल बन जाइये। लेकिन ज्ञान में तो वृद्ध ही हो के रहिये।

क्या क्या बीत गया?और आगे कैसे क्या होगा इसका मनन् चिन्तन न कीजिये, जो कुछ सामने हो उसे देखिये और कर्तव्य कर्मों को पूरा करते चलिए। जो वर्तमान कर्तव्य में पूर्णतया नहीं लगा हुआ है वही भूत भविष्य के चिन्तन में अपने समय का अपव्यय करता है। जो वर्तमान को देखता है उसे भूत भविष्य याद ही नहीं आता।

जब कभी किसी प्रकार के दुखमय क्लेश से आप व्यथित हो रहे हों तब सावधान होकर विचार कीजिए कि जैसे सुख सदा नहीं रहता वैसे ही 'यह भी नहीं रहेगा'। आप अपने ऊपर आये हुये दुखों का कारण कहीं बाहर न देखकर अपने भीतर ही खोजिये। यह निश्चय विश्वास कीजिए कि अपनी ही कहीं भूल हुई है। समझ में आये या न आये लेकिन किसी प्रकार से अपने अन्तर में छिपे हुये किसी दोष के ही परिणाम में किसी तरह का दुख हो सकता है।

अपने दोषों को दुख का कारण न समझकर ही मानव दूसरों को दोषी

ठहराते हैं और ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि दुर्विकारों से अपना अन्तःकरण कलुषित करते रहते हैं।

विचारहीन, अज्ञानी मनुष्य अपने भावों, विचारों के अनुसार अनुमान से ही दूसरों में दोषों की कल्पना करके स्वयं दुःखी होते हैं; इतना ही नहीं बल्कि दुःख से निकटवर्तियों को भी दुःखी करते हैं।

जिनके हृदय पवित्र हैं, उनके साथ ज्ञानरूपी प्रकाश है, वे क्रोध, रोष, अधीरता और चिड़चिड़ापन आदि दोषों से रहित होते हैं क्योंकि यह दोष दुर्बल और अयोग्य पुरुषों में रहते हैं। यदि आप साधारण मनुष्य से देवता होना चाहते तो प्रत्येक प्राणी के लिए शान्ति और रक्षा के जिस प्रकार दूसरों में मनमाना दोषारोपण करते हुये मनुष्य स्वयं दोषी होकर दुखी होता है, उसी प्रकार दूसरों में सद्‌गुणों की भावना करते हुये वह स्वयं सद्‌गुणी होकर सुखी हो सकता है। अपने आप अनुमानतः दुखी होना अच्छा नहीं है बल्कि सुखी होना ही अच्छा है। जिस प्रकार अपने आप दोषों के कारण दुखी होकर मनुष्य दूसरों को दुखी करता रहता है उसी प्रकार अपने भावित गुणों से सुखी होकर विचारमान पुरुष दूसरों को भी सुखी करता रहता है। विचारवान दूसरों को दुखी करके कभी सुख नहीं चाहता, प्रयुत्त दूसरों को सुख पहुँचाते हुये दुःख स्वीकार कर लेता है।

आप बुद्धिमानी से स्ववश सुख तथा परवश दुख को ही स्वीकार कीजिए, इसी प्रकार स्ववश दुख और परवश सुख का त्याग कीजिए। जब आप किसी दुख के कारण अपने परमाराध्य प्रियतम को भूल जायें तब आपको जान लेना चाहिए कि आपका अपने प्रियतम प्रभु से भी बढ़कर किसी प्रकार के सुख से सम्बन्ध है जिसकी चाह में आप विक्षिप्त हो रहें हैं। क्योंकि पूर्ण भक्त या प्रेमी तो भयानक से भयानक दुखों में भी अपने प्रियतम प्रभु का चिन्तन ध्यान करते हुए सब कुछ भूला रहता है।

सन्त का वाक्य है - जो तुमसे स्नेह करते हैं उनसे स्नेह किया तो क्या किया, जो तुमसे शत्रुता करते हैं, उनसे स्नेह करो, घृणा एवं बुराई करने वालों की भलाई करो।

वास्तव में मानव जीवन के साथ दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की प्रकृति होती है इन दोनों में जिस किसी एक का पक्ष लिया जाता है वही प्रबल हो जाती है अतः आप दैवीय प्रकृति के सद्‌भावों का ही निरन्तर पक्ष लेते रहें,

अहंकार अपनी प्रशंसा और क्रोध का त्याग करें।विचार रखें चाहे वह आपका शत्रु ही क्यों न हो। ईर्ष्या का उत्तर ईर्ष्या से न दें वरन् उन पर कृपा रक्खें। 'ईर्ष्या' तुच्छ, दीन, अन्धी और हीन है। 'प्रेम' महान्, धीमान्, दूरदर्शी और आनन्ददायक है।

जैसे-जैसे मनुष्य दूसरों की बुराई देखना छोड़ता जाता है वैसे ही वैसे वह स्वयं पापों, दुखों, क्लशों से मुक्त होता जाता है। इसलिये दूसरे आपके लिये चाहे जितने कटु शब्दों का प्रयोग करें आप बुरा न मानिये। जो आपसे घृणा करें, आत्मदमन और ज्ञानवृद्धि के द्वारा उनसे स्नेह करना सीखिये।

दूसरों की दशा समझने के लिये प्रथम ही उनके विषय में बुरे विचार न बाँध लीजिये। उनसे सहानुभूति रखने के लिये पहले निष्पक्ष होकर उनकी दशा समझ लीजिये। अपना विचार भूलकर दूसरों का विचार करना, इसी को सहानुभूति कहते हैं। वास्तव में जो जितना दयावान् है उतना है वह शक्तिशाली और बुद्धिमान् है। प्रेमी के मत में शक्ति की शोभा, रक्षा करना है न कि नाश करना।

जीवन सबमें एक है, केवल शक्ति और बुद्धिमत्ता में न्यूनाधिकता के कारण प्राणियों में भेद है।

मनुष्य सर्वत्र इस मिथ्या विश्वास से तब तक धोखा खाते हैं, जब तक वह अपना सुख दूसरे मनुष्यों और दूसरे पदार्थों पर निर्भर रखते हैं, इसीलिये वे सदैव निराशा, शोक और पश्चाताप से घिरे रहते हैं। जो विवेकी पुरुष हैं वे आनन्द को ऐसे पदार्थों पर निर्भर नहीं करते जो उनसे चाहे जब छीने जा सकते हों। जब तक आप ऐसी वस्तु का सहारा लेते हैं, जो परिवर्तनशील है तब तक उस वस्तु के साथ आप भी अपने को बदलते हुए देखेंगे, जैसे कि देह का सहारा लेने के कारण देह की अवस्था-परिवर्तन में आप अपना परिर्वतन मानते हैं।

यदि आप ऐसी वस्तु का सहारा लेते हैं जो आपसे चाहे जब हटा ली जा सकती है, जो आपके वश की बात नहीं है तो स्मरण रखिये, उस सहारे के हटते ही आप गिरेंगे और चोट से आहत होंगे। इसलिये आप ऐसी वस्तु का सहारा लीजिये जिसको कोई हटा न सकें, तभी आप निर्भय रहकर परम शान्ति को प्राप्त कर सकेंगे।

आपका सत्य आधार परमात्मा है, उस परमाधार के सहारे स्थिर होने के लिये आप अपने हृदय में उतरिये, वहाँ अपना अधिकार सम्हालिये। इस हृदय-प्रदेश में जब आप चिन्मात्र आत्मारूप परमात्मा के सहारे स्थित हैं तब आप सच्चे स्वामी हैं और जब इस अपने मुख्य धाम के बाहर पराश्रय लेकर भ्रमण करते हैं तब सर्वत्र परतन्त्र दास हैं।

अज्ञान के कारण पर पदार्थ का आश्रय लेने से जो कष्ट प्राप्त होता है उससे बढ़कर शिक्षाप्रद और पवित्रकारक, दण्ड नहीं और स्वानुभव के द्वारा अनुभूत होने वाले हृदयस्थित चिन्मय पुरुष का आश्रय लेने से जो सत्यबोध प्राप्त होता है उससे बढ़कर शान्तिप्रद लाभ नहीं।

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं,
जाया सुतादिषु सदा ममतां विमुन्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभंगनिष्ठं,
वैराग्यरसिको भव भक्तिनिष्ठः।।

'अस्थि, मांस और रुधिर आदि पदार्थों से बने हुए इस शरीर के प्रति अहंता को त्याग दो। स्त्री, पुत्र तथा कुटुम्ब, परिवारवालों में ममता मत रक्खो। इस क्षणभंगुर असार संसार की वास्तविक स्थिति को समझते हुए वैराग्य से प्रेम करनेवाले बन सदा भक्तिनिष्ठ होकर ही जीवन बिताओ।'

वह नर बड़भागी हैं जिनको निज जीवनलक्ष्य का ज्ञान मिला।
अभिमान मिटा नश्वर तन का परमात्म तत्व का ध्यान मिला।।
जन जन्म-मरण से मुक्त हुआ जब सत बोधामृत पान मिला।
वह पथिक ब्रह्म में लीन हुआ निर्भय पद दिव्य स्थान मिला।।

जीवन और उसका सदुपयोग

यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावन्च दूरे जरा।
यावन्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्।
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः।।

'ओ युवको! जब तक यह नूतन और निर्दोष शरीर स्वस्थ है, जब तक वृद्धावस्था तुमसे बहुत दूर चुपचाप बैठी है, जब तक तुम्हारी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं हुई है और जब तक यह आयु क्षय नहीं हुई है, तब तक ही आत्मा के कल्याण के प्रयत्न कर लो। इसी में बुद्धिमानी है। नहीं तो घर में आग लगने पर कुआँ खोद लेने की बाद सोचकर जो चुपचार बैठा है, उसका घर आग लगने पर जल ही जाएगा।'

जीवन का अर्थ

यह स्पष्टतया समझ लीजिये कि यह समय ही आपका है, इसलिये इसे कभी निरर्थक खोने की भूल न कीजिये! इस समय रूपी जीवन के द्वारा ही ऐसी स्थिति प्राप्त कीजिये जहाँ अभाव न हो, जहाँ किसी तरह की निर्बलता न हो, जहाँ किसी प्रकार का भय न रह जाय, जहाँ निरन्तर अमिट शांति हो और प्रेम के सौंदर्य में परमानंदस्वरूप का नित्य योग हो, यही जीवन का सदुपयोग है।

यह अनुभव कीजिये की जीवन का आधार असत् परिवर्तनशील देहसंघात नहीं है वरन् सत्य अपरिवर्तनशील चिन्मात्र स्वरूप आत्मा है, अतः देहासक्ति से मुक्त होकर परमात्मा में अनुरक्त होना ही जीवन का सदुपयोग है।

अज्ञानवश ऐहिक वासनाओं, कामनाओं के अनुसार विषय भोगजनित सुखों में जो पृवृत्ति है, उसका त्याग करते हुए निवृत्ति के पथ में बढ़ना ही जीवन का सुदपयोग है।

जीवन का दुरुपयोग

जो व्यक्ति देह को ही जीवन का आधार मानते हैं, जिनकी आवश्यकता की पूर्ति सांसारिक पदार्थों की कृपा पर निर्भर है, उनको उन्हीं पदार्थों की भक्ति करनी पड़ती है।

जो व्यक्ति यहाँ के विविध स्वादयुक्त भोजनों के मिलते रहने में यहाँ के भिन्न-भिन्न वस्त्राभूषणों की प्राप्ति में सुख मानते हैं एवं यहाँ के विविध इन्द्रियजनित विषय-भोगों में लिप्त रहकर संतुष्ट हैं, वे जीवन का दुरुपयोग करते हुए संसार की दासता में ही तब तक नाचते रहेंगे, जब तक कि सत्य जीवन, सत्यानन्द का ज्ञान न हो।

जिन क्रियाओं के द्वारा प्राणी ज्ञान के विरुद्ध अज्ञान की ओर, पुण्य के विरुद्ध पाप की ओर, मुक्ति के विरुद्ध बन्धन की ओर, चैतन्यता के विरुद्ध जड़ता की ओर एवं शाश्वत जीवन के विरुद्ध मृत्यु की ओर जाते हैं, वही उनकी अधोगति या दुर्गति के विधायक हैं- यही जीवन का दुरुपयोग है।

जीवन का सदुपयोग

जो व्यक्ति अपनी प्रत्येक क्रियाओं के द्वारा दुर्भावों को सद्‌भावों में, दुर्गुणों को सद्‌गुणों में बदलत हुए अज्ञान-अन्धकार से निकलकर सन्त सद्‌गुरुदेव एवं सत्‌शास्त्र और सद्धर्म का आश्रय लेकर ज्ञान प्रकाश में अपने परमाराध्य प्रभु की ओर बढ़ते हैं यही जीवन का सदुपयोग है।

जिस प्रकार कल का बिगड़ा हुआ काम आज के ठीक प्रयत्न से सुधर जाता है, उसी प्रकार पहिले के दुरुपयुक्त जीवन की दुर्गति आज के सदुपयुक्त जीवन से सद्‌गति में बदल सकती है। जहां सीमित संसार के भोगों में सुखासक्त रहना जीवन का दुरुपयोग है वहीं पर परमात्मा का उपासक होना जीवन का सुदपयोग है।

परम गति और परम शान्ति

सत्य की ओर होती हुई गति में जहाँ से पूर्ण त्याग एवं यथार्थ ज्ञान आ जाता है वहीं से दिव्य प्रेम की ओर होनेवाली गति को ही परमगति कहते हैं। असी के आगे प्रेम की पूर्णता में परम शांति प्राप्त होती है।

सच्चे धर्मात्मा की सद्‌गति होती है, सच्चे ज्ञानी की परम गति होती है, सच्चे प्रेमी को पूर्ण शान्ति मिलती है और पूर्ण बोधवान्‌ को मोक्षलाभ होता है।

हर प्रकार की पूर्णता किसी पुरुषार्थी मनुष्य में ही हो सकती है।

सीमित से असीम की ओर

यह प्रकृति सीमित है, अतः प्रकृति की उपासना करना जीवन का दुरुपयोग करना है। जो लोग संसार में ही सुख मानते हैं उन्हें तो प्रकृति की ही उपासना करनी पड़ती है। परन्तु सीमित प्रकृति में कभी परम्‌शांति नहीं मिल सकती। अतः जीव दुर्गति दुःख से पीड़ित होकर कभी न कभी असीम की ओर चलता ही है। असीम की ओर चलना ही जीवन का सदुपयोग है। प्रकृति से परे, और प्रकृति में ओतप्रोत जो सर्वाधार तत्व है वही परमात्मा असीम है, सीमाओं में ठहरकर सुख मानना मृत्यु का मार्ग है। असीम की ओर चलना ही मुक्ति का मार्ग है।

देह, प्राण, मन और बुद्धि के जो गुणधर्म हैं, यही सब अहं चेतना को बाँधने वाली क्षुद्र सीमाएँ है, अतः देहसंघात के अभिमान से मुक्त होकर अपने सत्यस्वरूप का निरावरण बोध प्राप्त करना ही असीम की ओर जाना है। असीम परमात्मा का अनुभव करने के लिये सीमित सुखों का मोह छोड़ना ही पड़ेगा। जब तक माया का पर्दा न हाटेगा तब तक मायापति परमेशवर का ज्ञान-दर्शन न हो सकेगा।

माया का पर्दा कैसे हटे

जीवनपथ में विषयवासना का नाम माया है। यही माया परम प्रेमास्पद परमात्मा की ओर बढ़ने में पग-पग पर विघ्न डालती रहती है। जो कोई पौरुष-प्रयत्न के बल से, देह से आलस्य का त्याग, प्राणों से प्रमाद का त्याग, इन्द्रियों से विषय लोलुपता का त्याग, मन से चञ्चलता का त्याग और बुद्धि से अज्ञानता का त्याग कर लेता है वही असीम परमात्मा के दिव्य योग को प्राप्त कर पाता है, ऐसे पुरुष के सम्मुख से माया का पर्दा हट जाता है।

इस संसार मे वही धन्य हैं जिन्होंने अपने जीवन का सदुपयोग किया है और कर रहे हैं। वही पुरुषहंस की तरह सर्वज्ञ सत्यरूपी मोती चुनते हैं, शेष प्राणी तो बगुलों की भाँति विविध विषयरूपी मछलियों को पकड़ते हुए जीवन को पापकलंकित कर रहे हैं। तभी तो किसी सन्त ने कहा है -

हंसा बगुला एक से, मानसरोवर माँहि।
बगुला ढूँढे माछरी, हंसा मोती खाँहि।।

'अनित्य सुखों एवं सम्बन्धियों के प्रति रागासक्ति का त्याग करके हंस की तरह सत्यानन्दस्वरूप में स्थित होना ही जीवन का सदुपयोग है।'

पुरुषार्थी की विजय

ये शूरा ये च विक्रान्ता ये प्राज्ञा ये च पण्डिताः।
तैस्तैः किमिष लोकेऽस्मिन् वद दैवं प्रतीक्ष्यते।।
तस्मात्पौरुषमाश्रित्य सच्छास्त्रैः सत्समागमैः।
प्रज्ञाममतलतां नीत्वा संसारजलधिं तरेत्।।

'जो लोग शूर हैं, उन्नति करने वाले है, ज्ञानी है, पण्डित हैं, बताइये! उनमें से कौन इस संसार में भाग्य की प्रतीक्षा करता है! इसलिए शास्त्रों और सज्जनों के सुसंग से युक्त पुरुषार्थ का आश्रय लेकर बुद्धि को निर्मल करके संसार समुद्र को पार कीजिये।'

बस प्रार्थना प्रभु से मेरी यही,
कहीं माया में भूल न जाऊँ तुम्हें।
निज भाग्य से चाहे जहाँ मैं रहूँ,
सुख में दुख में नित ध्याऊँ तुम्हें।।
कुछ और न हो अवलम्ब मेरा,
अपना सर्वस्व बनाऊँ तुम्हें।
यह बोध की दृष्टि खुले मुझमें,
जहाँ देखूँ वहीं प्रभु पाऊँ तुम्हें।।

शक्ति और सफलता

शक्ति कहाँ है? और उसका कार्य क्या है?

प्रत्येकमस्ति चिन्छक्तिर्जीवशक्तिस्वरूपिणी।।

'प्रत्येक जीव में चैतन्य शक्ति (आत्मा की अनन्त और अपार शक्ति) वर्तमान है।'

जीवस्योदेति या शक्तिर्यस्य यस्य यथा यथा।
भाति तत्फलदा नित्यं तस्य तस्य तथा तथा।।

'जीव में जिस प्रकार की शक्ति का उदय होता है, उसी प्रकार का फल उसे प्राप्त होता है।'

हर एक स्थल में अपनी सफलता के लिये जिस शक्ति की आवश्यकता है, वह अपने में ही विद्यमान है। यही शक्ति भिन्न भिन्न प्रकार की (आसुरी, मानवी और दैवी) प्रकृति में अधमता, मानवता और दैवत्व के स्वभाव एवं क्रिया को गति दे रही है। निम्न क्षेत्रों में भोगों के द्वारा शक्ति का ह्रास होता है और उच्च क्षेत्रों में योग के द्वारा शक्ति का समुचित विकास होता है। शक्ति के सदुपयोग से ही अधिकाधिक शक्ति प्राप्त होती है। संयमित शक्ति से मनोभिलषित सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

शक्ति से ही मनुष्य पहिले धर्म प्राप्त करता है पुनः उसी से अर्थ सिद्ध करते हुए पुण्य संचय करके कामनाओं की पूर्ति करने में समर्थ होता है। अन्त में इसी शक्ति से पूर्ण त्याग एवं ज्ञान के द्वारा मोक्ष पा जाता है।

शक्ति विकास के लिये ही साधनों की आवश्यकता है

किसी भी क्षेत्र में हमारी सफलता केवल केन्द्रित शक्ति पर ही निर्भर है। हमारे लिये वही साधन उपयुक्त और सुन्दर है जिसके द्वारा हम अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिये एकत्रित पा सकें। देह, प्राण, इन्द्रियों, मन और बुद्धि के द्वारा दुरुपयुक्त शक्ति का सुदपयोग होने के लिये ही पूजा, पाठ, कीर्तन, जप, तप और धन आदि अनेकों साधनों का आश्रय लेना पड़ता है।

भिन्न भिन्न क्षेत्रों से शक्ति का सम्बन्ध

जिस प्रकार हमारा यह भौतिक शरीर क्षेत्र इसी भूलोक के द्रव्यों से बना हुआ है, इसी प्रकार हमारे प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय क्षेत्र उत्तरोत्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोकों के द्वारा निर्मित हैं। प्रत्येक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्ति है और अपने अपने लोकों की शक्ति को लेकर, प्रत्येक क्षेत्र क्रियाशील हो रहे हैं। जिस क्षेत्र में क्रिया की प्रधानता रहती है वही क्षेत्र विशेष शक्तिसंम्पन्न होता है।

स्थूल क्षेत्र में संगृहीत शक्ति के द्वारा स्थूल कर्म भली प्रकार सिद्ध होते रहते हैं। प्राणमय सूक्ष्म क्षेत्र में प्राणशक्ति के द्वारा विविध विषयवासनाओं तथा कामनाओं की पूर्ति होती रहती है। इसी प्रकार मनोमय क्षेत्र में केन्द्रित शक्ति के द्वारा विविध भाव एवं इच्छा एवं संकल्प की सिद्धि होती है। इससे ऊपर विज्ञानमय क्षेत्र में विकसित शक्ति के योग से अद्‌भुत प्रतिभायुक्त ज्ञान का प्रकाश होता है। इसी ज्ञानालोक में परमार्थ का पथिक अपनी बिखरती हुई बहिर्मुख शक्ति को अन्तर्मुख करते हुए अपने परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने मे समर्थ होता है।

शक्ति का दुरुपयोग और सदुपयोग

अपनी शक्ति के प्रवाह को निम्न क्षेत्रों की ओर बहने देना ही जीवन को पतित करना है और शक्ति के निम्न प्रवाह का निरोध करना ही उन्नति के लिये शक्ति सम्पन्न होना है। इस प्रकार शक्तिसम्पन्नता को स्वार्थसिद्धि के विरुद्ध दूसरों के हित में लगाते रहना ही उन्नति पथ पर बढ़ जाना है। यही है सफलता- जो कि शक्ति के संयम और सदुपयोग द्वारा सिद्ध होती है।

शक्ति की कहीं किसी से भीख नहीं माँगनी है यह तो सभी को अपनी योग्यतानुसार स्वतः प्राप्त है। लेकिन जब तक ज्ञान, विवेक नहीं उदय होता, तब तक देह द्वारा निरर्थक क्रिया करते हुए प्राणों की निरर्थक चेष्टा पर ध्यान न देते हुए एवं इन्द्रियों द्वारा व्यर्थ व्यापार फैलाते हुए अथवा मन द्वारा प्रपंचमय विचारों को स्थान देते और उनका मनन करते हुए, इसी प्रकार बुद्धि द्वारा असद्‌भावों को सत्य मानते हुए मानव अपने जीवन में सुलभ शक्ति का दुरुपयोग करता रहता है। कदाचित्‌ आपका वर्तमान जीवन सद्‌गुणों और सद्‌भावों से हीन है तो शक्ति के सदुपयोग से किसी भी प्रकार की हीनता को

दूर कर आप तुच्छ, अकिंच्चन से महान्‌ हो सकते हैं। आप किसी की सौभाग्यशालिता को देखकर अपने दुर्भाग्य को कोसते न रहिये बल्कि अपनी स्वतः सिद्ध शक्ति के द्वारा सतत प्रयत्न कीजिये।

जिस प्रकार कोई भी मनुष्य अपने पहिले के दोषपूर्ण असुन्दर भवन को अपनी शक्ति, सम्पत्ति के द्वारा समुचित सामग्री एकत्रित करते उसी में रहते हुए ही उसे क्रमशः युक्तिपूर्वक सुन्दर, निर्दोष भव्य भवन में बदल देता है, उसी प्रकार आप अपने पूर्व के भव्य-भवन को क्रमशः योग-युक्ति से सौभाग्य-भवन में परिणत कर सकते हैं। लेकिन जिस प्रकार भौतिक भवन को दूसरे रूप में बदलने के लिये उचित सम्पत्ति की आवश्यकता है, उसी प्रकार इच्छित रूप में अपने भाग्य-भवन को बदलने के लिये भी शक्ति और पुण्यरूपी सम्पत्ति की आवश्यकता है। तप के द्वारा शक्ति और सेवा के द्वारा पुण्यरूपी सम्पति प्राप्त होती है। शक्ति के दुरुपयोग से दुर्भाग्य, सदुपयोग से सौभाग्य का दर्शन होता है।

संरक्षण तथा सेवा करना शक्ति का सदुपयोग है, संहार करना शक्ति का दुरुपयोग है। अहंकारपूर्वक शक्ति से किसी को गिरा देना शक्ति का दुरुपयोग है और किसी गिरे हुए हो सरल भाव से तत्परतापूर्वक उठा लेना शक्ति का सदुपयोग है, लेकिन परोपकार करते हुए अपना परमार्थ सिद्ध कर लेना शक्ति का सदुपयोग है। राग के पथ से अविवेकी और मोही होकर संसार में आसक्त रहना शक्ति का दुरुपयोग है, इसके विरुद्ध त्याग के पथ से ज्ञानी और प्रेमी होकर सत्याधार में अनुरक्त होना शक्ति का सुदपयोग है।

शक्ति संयम का फल

जो पुरुष संयम के द्वारा अपनी बिखरी हुई शक्ति को देह, प्राण, मन और बुद्धि के क्षेत्रों में एकत्रित कर सकता है, वही अपनी इच्छा एवं संकल्प की पूर्ति करने में समर्थ है, उसी को जप, तप, भाव, योगादि से सिद्धि प्राप्त हो सकती है। शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न विभूतियों से शक्तिपूर्ण वरदान पाना सुलभ होता है।

संयम-साधना के द्वारा, शक्ति का विकास करने के लिये शक्ति योग की सिद्ध के लिये ही मन्दिरों में, तीर्थ स्थानों में या जनशून्य बन, उपवनों में समयानुसार जाने की आवश्यकता है। भ्रमवश इन विशेष स्थानों से किसी अन्यान्य फल-प्राप्ति की आशा न रखनी चाहिए। मनुष्य को अपने अन्तः क्षेत्रों

के भीतर ही सुप्त शक्तियों को विशेष साधनों के द्वारा जगाना है। किसी के लिये अनन्त शक्ति का द्वार कभी बन्द नहीं है। अनन्त की वह अनन्तता ही कैसी, जिसमें कहीं पक्षपात अथवा संकीर्णता हो।

शक्ति और मानव कर्तव्य

प्राणीमात्र के जीवन अनन्त शक्ति के सागर में पोषित हो रहे हैं; तथापि अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ही शक्ति का ग्रहण और उपयोग करते हुए वे जीवन, जो रस ले रहे हैं, उससे परितृप्त नहीं होते। वस्तुतः वे प्राणी अज्ञानवश जीवन के मूल, उस अनंत शक्ति स्त्रोत को समझ नहीं पाते, इसीलिये यथार्थ ज्ञान न होने तक सदा अतृप्त दशा में भटकते ही रहते हैं।

हम सबको ध्यान देकर निरीक्षण करते रहना चाहिये कि शक्ति का किसी भी क्रिया, चेष्टा, भाव एवं विचार के द्वारा दुरुपयोग हो रहा है या सदुपयोग। हर एक मनुष्य को अभिलषित सफलता के लिए आवश्यक साधन, संयम करना ही होगा। निरर्थक क्रियाओं, चेष्टाओं, अनुचित मनोभावों और बुद्धिगत विचारों के द्वारा नष्ट होती हुई शक्ति को सार्थक सेवा, सद्भाव एवं सद्ज्ञान की परिवृद्धि के लिए सतत सावधान रहकर ध्यान योग से निरुद्ध रखना होगा।

शक्ति के सागर में रहते हुये भी प्राणी अपने क्षेत्रों में पात्रता के अनुसार ही शक्ति को ग्रहण कर पाते हैं; और क्षेत्रों की पात्रता उनके समुचित क्रियाशील होने से ही बढ़ती है। इसीलिए केवल उन्हीं कर्मों को किया जाय, उन्हीं सद्भावों एवं सद्गुणों को अपनाया जाय, जिनसे शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक योग्यता की अधिकाधिक वृद्धि हो, जिससे कि प्रत्येक क्षेत्र अपनी पात्रता में विशाल शक्ति ग्रहण कर सके।

प्रायः लोग, अपनी क्षुद्र प्रकृति के स्वभाववश क्षुद्र सुख-भोग की कामनाओं-वासनाओं एवं क्षुद्र भावनाओं में शक्ति समय का दुरुपयोग करते रहते हैं, इसी क्षुद्र प्रकृति की सीमा से उच्च्य प्रकृति में उठ जाना ही मानव-जीवन का मुख्य कर्तव्य है। कोई भी आज के अपने कर्तव्य को पूरा कर लेने पर ही कल के काम को पूरा करने के योग्य शक्ति से सम्पन्न हो सकता है। जो कुछ आज हम कर सकते हैं वही हमारा आज का कर्तव्य है। अपने कर्तव्य को पूरा न करना ही शक्ति तथा समय (जीवन) का दुरुपयोग करना है। प्रायः मनुष्य अपने सम्मुख उपस्थित बहुत छोटे छोटे कामों को भी आलस्य

प्रमादवश टालता ही रहता है। जिस समय करना चाहिए उस समय नहीं करता।

शक्ति का दुरुपयोग ही उसका अनादर है और शक्ति का सदुपयोग ही उसका आदर है। शक्ति का आदर करनेवाला सदा शक्ति की महती कृपा का अनुभव करेगा और अनादर करने वाला सदा अपने भाग्य को ही कोसता रहेगा; अतः बुद्धिमान् पुरुषों का कर्तव्य है कि शक्ति का आदर करें अनादर नहीं।

शक्ति द्वारा उन्नति की युक्ति

आप अपनी प्राप्त शक्ति से ही शक्ति की अधिकाधिक वृद्धि कर सकते हैं। जितनी ही अधिक आपमें पाचनशक्ति प्रबल रहती है उतनी ही अधिकता से आप पौष्टिक पदार्थों को खाकर शक्ति लाभ करते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में जितनी ही ग्रहणशक्ति प्रबल होगी उतना ही आप उन-उन क्षेत्रों द्वारा शक्ति सम्पन्न होते जायेंगे। शुद्ध सात्विक आहार और विषय संयम से शारीरिक उन्नति होती है, सद्व्यवहार एवं सद्गुण विकास से मानसिक उन्नति होती है, सन्त-सद्गुरु समागम के द्वारा प्राप्त ज्ञान से बौद्धिक उन्नति होती है और निष्काम प्रेम एवं सत्यस्वरूप के ध्यान से आत्मोन्नति होती है। आपको सर्वप्रथम सन्तों के सत्संग की सर्वोपरि आवश्यकता है, जिससे कि आप बुद्धिमता की दृष्टि प्राप्त करें; तद्नन्तर आप आत्मसंयम की साधना धारण करें। बुद्धिमत्तापूर्वक आत्मसंयम से ही शक्तिसम्पन्न होकर आनन्द और शान्ति के परमधाम में प्रवेश किया जा सकता है।

आप अपनी शक्ति से संसार पर नियंत्रण करने का दुस्साहस न कीजिये, वरन् अपने पर नियंत्रण कीजिये। आप अपने शक्ति सामर्थ्य से दूसरे की इच्छाओं के दमन करने के फेर में न रहिये, वरन् अपनी इच्छाओं का दमन कीजिये।

देह और इन्द्रियों के द्वारा आवश्यक कर्तव्य क्रियाओं के अतिरिक्त किसी भी प्रकार की निरर्थक क्रियाओं अथवा चेष्टाओं में शक्ति और समय का दुरुपयोग न कीजिये।

मन को निरन्तर पवित्र भावपूर्वक किसी न किसी शुभ कर्म में लगाते रहिये; ताकि निरर्थक संकल्पों-विकल्पों में, व्यर्थ के भावों और विचारों में शक्ति का दुरुपयोग न हो। बुद्धिमानी तो यही है कि या तो काम कीजिये और

जब काम न हो तब विश्राम कीजिये या फिर राम राम कीजिये। राम राम करने का आशय यही है कि परमात्मा के विषय में जैसी आपकी मान्यता हो उसी नामरूप में उनका प्रेम-पूर्वक ध्यान कीजिये।

आप जिस समय भी कार्य से अवकाश पाइये, उसी क्षण से परमात्मा का पवित्र स्मरण, चिन्तन करने लगिये। आत्म कल्याणार्थ साधन के लिये, भविष्य की आशा में रुके रहकर भयंकर भूल न कीजिये। बल्कि जिस समय यह याद आ जाय कि हम कुछ भजन नहीं करते उसी समय तुरन्त जो कुछ भी हो सके, करने लग जाइये। आपके लिये वही तो एक समय है जब कर्तव्य कर्म याद आता है, यदि उस समय को टालते हो तो याद रक्खो! सम्भव है आपको कभी समय न मिले, अतः बिना विलम्ब यहीं पर अपनी शक्ति का सदुपयोग कीजिये।

आप तभी अपनी उन्नति समझिये, जब कर्तव्यकर्मों में कहीं भी आलस्य, प्रमाद का प्रवेश न होने पाये। किसी भी स्तर में दुर्भाव की दुर्गन्ध शेष न रह जाय, और लक्ष्य पथ कहीं भी तमसाच्छन्न न होकर ज्ञानप्रकाश में विवेक-दृष्टि द्वारा दीखता चला जाये।

उन्नति का स्वरूप

प्रत्येक क्षेत्र में शक्ति की प्राप्ति एवं निर्बलता का अभाव ही तो उन्नति का अर्थ है; जब कि भय की जगह निर्भय होकर आप प्रत्येक कठिनाइयों को परास्त करें और अपने परम लक्ष्य की ओर बढ़ते ही चले जायें।

जैसे जैसे आप अपनी निम्न प्रकृति से सांसारिक भोग-वासनाओं, कामनाओं से ऊपर उठेंगे उसी क्रम से संकीर्णता के संकट से मुक्त होते जायेंगे, भेदभाव मिटता जायगा, ऐश्वर्य प्रताप प्रबल होता जाएगा, आपकी आरोहण गति निरापद एवं सरल होती जायेगी, दुनिया के ऊँचे-नीचे स्थान उसी तरह दीखेंगे, जिस प्रकार गिरि-शिखर से एक विशाल नगर का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। ऊँचाई-निचाई का भाव समता में बदल जायगा और आपकी दृष्टि आगे दीखनेवाली- सभी प्रकार की सीमाओं तो तोड़ती हुई (असीम में विलीन होने के लिये) बढ़ती जायगी। इसी प्रकार सभी ओर से शक्ति के सदुपयोग द्वारा आप शक्तिसम्पन्न होकर महान् पद को प्राप्त होंगे।

जब आप वाणी द्वारा प्रवाहित शक्ति का निरोध करेंगे, तब आपमें

मनन करने के लिये वही शक्ति मनोबल रूप में बदल जायगी, और मननशक्ति का जब बुद्धि में निरोध करेंगे तब ज्ञान विवेक अनेक गुना बढ़ जायेगा। इसी प्रकार जब बुद्धि का निरोध, अहमित चेतना में करेंगे तब अहं की व्याप्ति असीम की ओर बढ़ चलेगी, और अहमिति भाव का निरोध जब समष्टि शान्तात्मा में होगा, तब पूर्णानन्दमय परम निर्वाण पद की सिद्धि होगी।

सर्वशक्मियो ह्यात्मा यद्यथा भावयत्यलम्।
तत्तथा पश्यति तदा स्वसंकल्पविजृम्भितम्।। योग धा०

'आत्मा सर्वशक्तियों से युक्त है, वह जिस शक्ति की जहाँ भावना करता है, वहीं पर उसे अपने संकल्प द्वारा प्रकट देखता है।'

इतनी ही दया है कहाँ कम जो,
नित नाथ के ही गुण गाया करूँ।

जो कृपा आपकी दुःखहारिणी है,
कभी भूल से भी न भुलाया करूँ।।

न दो दर्श तो प्रेम की वेदना दो,
सदा तुमको हृदय से बुलाया करूँ।

हो पथिक आपके ही मैं पथ में रहूँ,
प्रेमपूर्वक आपको ध्याया करूँ।।

धर्म

धर्म का स्वरूप

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। मनु० ६-९२

'धृति, क्षमा, दम अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रिय-निग्रह, घी, विद्या, सत्य और अक्रोध - ये दस धर्म के लक्षण हैं।'

धर्मात्मा ही धैर्यवान होता है

धर्म का प्रथम अंग धृति है, जिसका अर्थ धैर्य, सन्तोष, सहन-शीलता होता है। जो मनुष्य अपने प्रारब्धवश समय-समय पर उपस्थित होने वाले संयोग, वियोग, लाभ, हानि, सुख, दुख आदि द्वन्दों के बीच धैर्य धारण किये हुए गम्भीरता एवं शान्ति से आने वाली वस्तुओं को ग्रहण करता है, और जानेवाली वस्तुओं को जाने देता है, इस प्रकार न मिलनेवाली वस्तुओं के लिये जो आतुर, अधीर नहीं होता, वही धर्मात्मा पुरुष है।

धैर्यवान् की बुद्धि भ्रमित न होकर शान्त एवं दूरदर्शी होती है। इसीलिए वह किसी भी परिस्थिति में उत्तेजित अथवा क्षुब्ध नहीं होता। तभी ऐसे धर्मात्मा में गम्भीरता के कारण धर्म का दूसरा अंग 'क्षमा' भी बहुत सरलता से स्वभावरूप बन जाता है।

धर्मात्मा क्षमाशील होता है

धर्मशील पुरुष अपना अपकार करने वाले या अपनी बुराई करने वाले से बदला लेने की सामर्थ्य रखते हुए भी बदला ने लेकर निर्विकार चित्त से उसका अपकार सहन कर लेते हैं। यह क्षमा का भाव ही धर्म का दूसरा लक्षण है। क्षमा का महत् फल भी सन्त के शब्दों में देखिये!

जहाँ दया तहँ धरम है, जहाँ लोभ तहँ पाप।
जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ क्षमा तहँ आप।।

क्षमा करने की शक्ति रखनेवाला धर्मात्मा पुरुष अनेक अवसरों पर आधि, व्याधि और उपाधि को उत्पन्न करने वाले उपद्रवों से बच जाता है।

उसकी बुद्धि तथा मन और इन्द्रियों में सदा शान्ति का निवास रहता है। क्षमावान् तो सदा भगवान की विशेष कृपा अनुभव करता रहता है।

धर्मात्मा अपने मन को वश में रखता है

स्वच्छन्द रूप से विषय-सुख-भोगों के लिए चंचल रहने वाले मन को अपने वश में रखना धर्म का तीसरा अंग है। धर्मवान् निरर्थक विचारों में, दूषित भावों में, कुत्सित इच्छाओं में और विषय भोग जनित सुख की कामनाओं में, अपने मन को चंचल नहीं होने देता, वह केवल पवित्र विचारों, भावों, एवं सद्इच्छाओं और शुभ कार्यों में ही मन लगाता है, इसीलिए वह दीन, दरिद्र नहीं होता, स्वार्थ-लोलुप, व्यसनी उद्दण्ड नही होता।

धर्मात्मा ही चोरी नहीं करता

अस्तेय (चोरी न करना) यह धर्म का चौथा अंग है। प्रायः कुछ मनुष्य किसी के घर से छिप करके धनादिक पदार्थ उठा लेने को चोरी कहते हैं लेकिन चोरी इतने में ही सीमित नहीं है।

आजकल तो प्रायः स्वार्थी मनुष्य, जितना ही पढ़ा-लिखा है उसे जितना अच्छा पदाधिकार, वृहद् व्यापार का स्थान प्राप्त हुआ है, उतनी ही निपुणता से वह बड़ी-बड़ी मात्रा में चोरी करते हुए अपनी सफलता पर गर्वित होता है। छिपकर कुछ धन या वस्त्र या पात्र उठा ले जाने वाले चोर तो बहुत ही दरिद्र और बुद्धिहीन हैं, चोरी करने की योग्यता ही उनमें नहीं है, न उन्हें ऐसी शिक्षा ही मिली है। वास्तव में आज के सभ्य, शिक्षित, माननीय पदों पर सुशोभित स्वार्थ-सुख-लोलुप समाज की ओर देखिये, तो पता चलेगा कि आज की शिक्षा-दीक्षा की बदौलत चोरी की कितनी विलक्षण उन्नति हो रही है, मनुष्य चोरी करना कितनी सभ्यता-पूर्वक सीख गया है। दिन दहाड़े, आँखों के सामने ही, अपनी आवश्यकता की पूर्ति की लिये तृष्णा की तृप्ति के लिये, चोरी करना और कराना जीवन का व्यवसाय बन गया है। कोई लाखों में एक धर्मनिष्ठ पुरुष ही ऐसा निकल सकता है, जो चोरी न करता हो; उसी का जीवन अन्तर बाहर शुद्ध हो सकता है।

धर्मात्मा ही बाहर भीतर से पवित्र रह पाता है

धर्म का पाँचवाँ अंग शौच है। शौच कहते हैं, पवित्रता को। पवित्रता एक तो बाहर की होती है- जो जल मृत्तिकादि के द्वारा, अपनी देह से मल

मूत्र, पसीना एवं दुर्गन्ध आदि को दूर करते रहने से होती है। इसी को बाह्य शौच कहते हैं, और दूसरी पवित्रता अन्तर की होती है जो शुद्ध भोजन और शुद्ध विचार से स्थिर रहती है।

अधिकांशतः मनुष्य जीभ का (स्वाद का) इतना गुलाम बन गया है उसकी बुद्धि इतनी विचारशून्य हो गई है कि नाना प्रकार के आनावश्यक द्रव्य बीड़ी, तम्बाकू, चरस, गाँजा, भाँग, चाय, मांस, मदिरा आदि दुर्व्यसनों की दासता में विवश होकर देह, इन्द्रिय तथा मन पर दुर्व्यसनों से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणाम को भी नहीं समझ पाता। धर्मात्मा पुरुष ही निरर्थक पदार्थों का सेवन नहीं करता और उसी में बाहरी तथा भीतरी पवित्रता होती है।

इससे बढ़कर वास्तव में अन्तःकरण की शुद्धि ही सर्वोत्कृष्ट पवित्रता है। जिसमें मन की चंचलता, चित्त की अशुद्धता की जड़ता और अहं की अज्ञानतारूपी दोष न रह जाय, वही सबसे ऊँची पवित्रता है, जो धर्मात्मा पुरुष में ही होती है। यह धर्म की पाँचव अंग 'शौच' से प्राप्त होती है। धर्मात्मा पुरुष देहेन्द्रियों को शुभकर्मों के द्वारा, मन को सद्भावों के द्वारा एवं बृद्धि को सद्विवेक द्वारा, सीमित अहं को विराट पुरुष की भक्ति के द्वारा पूर्ण पवित्र कर लेता है। तभी उसे आत्मा-परमात्मा का अभेद बोधानन्द सुलभ होता है।

धमात्मा में इन्द्रिय-निग्रह

जब धर्मात्मा शान्तिमय ज्ञान की स्थिति में दृढ़ रहता है, तभी उसकी इन्द्रियाँ स्ववश होती हैं; क्योंकि उसे विषयरस, विवेक दृष्टि से देखने पर तुच्छ एवं घृणित प्रतीत होते हैं। यह धर्म का छठा अंग इन्द्रियनिग्रह धर्मात्मा में ही दिखाई देता है।

इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श,रूप, रस, गन्ध ये जो विषय हैं, धर्मात्मा उनका भोक्ता नहीं बनता, वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता रहता है। जो देह, प्राण, मन बुद्धि के लिये हितकारी, पोषक पदार्थ हैं, उन्हें ग्रहण करता है, और जो अहितकर हैं, उनका त्याग करता है।

जिसे विचार-बल के द्वारा, विषयों में सुख-भावना नहीं रहती ऐसा धर्मात्मा पुरुष ही इन्द्रिय निग्रह में समर्थ है। क्योंकि धर्मशील विषय-सुखों से विरक्त होकर सत्य लक्ष्य की ओर देखते हुए समस्थित रहता है।

शक्ति का प्रवाह निम्न स्तरों से रोकने पर उच्च स्तरों की ओर उठ जाता है। जितना ही देह-इन्द्रियों की निरर्थक क्रियाओं चेष्टाओं का निरोध

किया जाता है, उतनी ही शान्ति एवं बल की वृद्धि के साथ-साथ बुद्धि प्रकाशित होती जाती है। उच्च स्तरों में संचित शक्ति से ही धर्मात्मा आत्मोन्नति कर सकता है।

धर्मनिष्ठ की बुद्धि सुन्दर होती है

यह धर्म का सातवाँ लक्ष्य है। जिसकी बुद्धि पवित्र है, उसी का परम उत्थान होता है और जिसकी बुद्धि अशुद्ध है, उसी का अधःपतन होता है। शुद्ध बुद्धि ही यथार्थदर्शिनी हो सकती है; इसी पर जीवन की सद्गति परम गति निर्भर है।

बुद्धिमान में ही विद्या प्रकाशित होती है

विद्या वही है जिससे सत्य क्या है, असत्य क्या है, यह ज्ञान प्राप्त हो। विद्या वही है जिससे विषयों के बन्धन और तज्जनित दुखों से मुक्ति हो, अज्ञान की निवृत्ति हो और परमशान्ति की प्राप्ति हो। ऐसी विद्या पवित्र अन्तःकरण वाले धर्मात्मा पुरुष में ही होती है। यह धर्म का आठवाँ अंग है।

विद्वान पुरुष ही सत्यदर्शी होता है

किसी भी प्रकार से सत्य का संग होना धर्म का नवाँ लक्षण है। सत्य की महिमा तो अनन्त है, इसकी अनन्तता का ज्ञान धर्मात्मा को ही होता है। सत्य का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि वाणीमात्र से वैसा ही कहना, जैसा देखा या सुना हो; बल्कि जो सत्य ही सुनता हो, सत्य ही देखता है, सत्य ही कहता है और सत्य ही से मिलता है, वही सत्यदर्शी धर्मात्मा है।

सत्य ही उत्कृष्टतम लक्ष्य है

सत्य में ही सर्वभावेन योगस्थ होने के लिए समस्त धर्मानुष्ठान तथा विधि-विधान हैं। सत्य का बोध ही तो जीवन का परम लक्ष्य है। कर्म, धर्म, भाव, ज्ञान, व्यवहार, सुख, शान्ति भक्ति, मुक्ति, जीवन और जीवनेश के सत्यस्वरूप को न जानने के कारण ही प्राणी मात्र भटक रहे हैं। केवल धर्मात्मा पुरुष ही सत्यज्ञान के पथ में चलते हैं। जो सत्य को जान लेते हैं, उन्ही को परम शान्ति साम्यस्थिति दृढ़ होती है। उसी दशा में -

निज प्रभुमय देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध।

पूर्ण धर्मात्मा में क्रोध नही होता

सत्य का बोध होने पर धर्मात्मा अक्रोध भाव में स्थिर हो जाता है। यह धर्म का दसवाँ लक्षण है। अहंकाररहित, क्षमाशील, जितेन्द्रिय शान्त मनवाले पवित्र स्थिर और सतत जागरूक बुद्धिवाले, जिनमें अज्ञानान्धकार को दूर कर देने की सामर्थ्य है तथा परमार्थ के पथ को दिखलाने वाली पवित्र विद्या है, ऐसे ही धीर, गम्भीर, धर्मात्मा, सत्यनिष्ठ पुरुष को क्रोध नहीं आता। शेष सर्वसाधारण मनुष्यों के पीछे कोई भक्त जैसा कहते हैं, वैसा ही दिखाई देता है।

यथाः- 'दसो दिसा ते क्रोध की उठी अपरबल आगि।
सीतल संगत सन्त की तहाँ उबरिये भागि।।'

धर्म की विजय और व्याप्ति

आदर्श व्यक्ति की सत्यानुरक्ति तथा विष विरक्ति के द्वारा प्राप्त होने वाली शक्ति से ही धर्म की सर्वत्र विजय होती है, संगठन से ही धर्म की व्याप्ति बढ़ती है। शक्ति या तो प्रजापालक शासनाधिकारी राजा में होती है, या फिर त्यागी तपोनिष्ठ योगी में होती है, यही जब चाहें तभी धर्म की सर्वत्र अव्याहत (कहीं न रोकी जानी वाली) गति तथा व्याप्ति हो सकती है। जो जनसेवा में सदा तत्पर चित्त है; जो सर्वत्र नम्र है, विनयी है, सन्तोषी एवं गम्भीर है, बुद्धिमान, सन्तसंगी और सदा वीर है, ऐसे ही व्यक्ति के धर्ममय जीवन में सद्गति होती है।

धर्म का सत्य स्वरूप कैसे विदित हो

जब सच्ची जिज्ञासा हो, सत्शास्त्रों का श्रवण-मनन हो एवं ज्ञानी सत्पुरुषों का समागम होता रहे और सद्गुरुदेव की आज्ञा पालन में पूर्ण तत्परता हो, अथवा श्रद्धायुक्त सेवा करते हुए तप हो तभी धर्म एवं सत्य तत्व का यथार्थ बोध होता है। धर्म तो जीवन का गुप्त धन है, जो अन्तः संशोधन से अन्तर्दृष्टि द्वारा दिखाई देता है।

जिसमें धर्म का बोध होगा वह अवश्य ही धीर, गम्भीर, उदार, परोपकारी और संचयरहित विरक्त होगा। धर्मात्मा पुरुष सत्य को जानते हैं, उसी के अनुसार भाव रखते हैं, वही आचरण के द्वारा दिखाते हैं और उसी

का प्राणियों के कल्याणार्थ उपदेश देते हैं।

किसी व्यक्ति में आदर्श महत्ता धर्मावलम्बन से ही आती है। धर्महीन मनुष्य में तो केवल पशुसुलभ गुणों एवं भावों का ही आचरण पाया जाता है। धर्मरहित व्यक्ति तो उस राख के समान है, जो अग्नि के दाहकत्व धर्म के लोप हो जाने पर दिखाई देती है।

जिसके द्वारा सद्गुणों का उत्तरोत्तर विकास हो, जिसके संग से संसार-प्रपंच से विरक्ति हो जाये और सत्स्वरूप में स्थिति हो जाये वही धर्मात्मा है। जिसमे मन, वाणी तथा बुद्धि के द्वारा सर्वशः हितकर सुन्दर चरित्र है वही प्रमाणित धर्मात्मा है। जिससे समदर्शिता सिद्ध होती है- ऐसा अहिंसा भाव का व्रती तो परम धर्मात्मा है।

द्रष्टा की दृष्टि पर ही एक या अनेक धर्म निर्भर हैं

जिसकी दृष्टि में एक लक्ष्य है, उसकी प्राप्ति के लिये उसे एक ही सत्धर्म का आश्रय लेना पड़ेगा। लेकिन जिसकी दृष्टि में अनेकों लक्ष्य है, जिसे अनेकों के पाने की कामना है, उसे अनेकों धर्मों की शरण में जाना पड़ेगा। वे अनेकों धर्म अनेकों व्यक्तियों के द्वारा अनेकता के गर्भ से निकले हैं; सत्यतः एक धर्म तो उसका प्रकाशक है, जो इस अनेकता के पीछे केवल एक अद्वितीय तत्व है, जिस तत्व को जाने बिना सभी कुछ जानना निरर्थक है, जिस तत्व से मिले बिना कहीं भी परम शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसीलिये जो कोई इस दृष्य जगत् की अनेकता को पार करके उस एक तत्व (परमाधार सत्य) की ओर बढ़ना चाहता है, उसी से मिलना चाहता है, उसके लिये संसार में एक वही धर्म है, और उसका लोकप्रसिद्ध नाम है 'मानवधर्म' अर्थात् जो समस्त संसार के मनुष्यों के लिये है।

मनुष्यों ने उसी एक धर्म को अपने अहं द्वारा निर्मित जाति, पाँति, भाँति एवं देश, काल की सीमाओं के साथ मिला कर अनेकों नाम दे रक्खे हैं, इसीलिये संसार में अनेकों धर्म प्रतीत होते हैं। हर एक मनुष्य की कभी न कभी शान्ति की आशा से किसी एक धर्म की शरण लेनी पड़ती है। यह सभी माने हुए धर्म विश्वास तथा श्रद्धा के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। उनसे मनुष्य को जो शान्ति प्राप्त होती है - वह उसके विश्वास और आगे चलकर श्रद्धा द्वारा सुलभ मनोयोग के कारण, तथा सदाचरण, सद्भाव और सबसे बढ़कर सद्ज्ञान के कारण। मनुष्य जब कभी अनेकता की भीड़ में अनेकों धक्के सहते

हुए व्याकुल होता है तभी इस भीड़ को पार करके अपनी प्रशान्त आत्मा की नीरवता में पहुँचने की चेष्टा करता है, और जब कभी वहाँ पहुँच पाता है तभी उस शान्ति-धाम से उसे अनेकता के पीछे एकता दिखाई पड़ने लगती है। तभी वह उन अनेकों ओर जानेवाली बीहड़ वीथियों की भूलभुलैया में पथभ्रष्ट नहीं होता, क्योंकि ऐसे पुरुष की विवेकदृष्टि एक सत्य लक्ष्य को देखती है और उस एक सत्य लक्ष्य में पहुँचने के लिये एक ही धर्म-पथ दीखता है, जिसके द्वारा चलते हुए प्रत्येक प्राणी उस सत्य लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

धर्मपथ की दो दिशायें

धर्मपथ, एक शैल-शिखरीय पथ की भाँति है जिसकी दो दिशायें हैं- एक दिशा वह है- जो परमोत्कृष्ट सत्य लक्ष्य की ओर ले जाती है। यदि इसकी ओर यात्री अपनी पीठ कर ले तो धर्मपथ की दूसरी दिशा वह है जो अधोगति के द्वारा परिवर्तनशील जगत् के अन्धतम प्रदेश की ओर गिरा देती है।

धर्म के पथ में चलते हुए पथिक का मुख यदि सत्य लक्ष्य की ओर है तब तो धर्मपथ से परम शान्तिमय दिव्य स्थिति की ओर जा रहा है, और यदि कहीं वह उस सत्य लक्ष्य की ओर पीठ कर ले तो उस धर्म-पथ से पृथक होकर उसे अशान्ति के गर्त में उतर जाना होगा।

कोई भी पथिक धर्म-पथ की नीची से नीची सीढ़ियों पर चलते हुए भी यदि सत्य लक्ष्य की ओर देख रहा है तो निश्चय ही वह सद्गति द्वारा शान्ति को प्राप्त होगा; और कोई पथिक धर्मपथ की ऊँची से ऊँची सीढ़ियों पर पहुँचकर भी यदि सत्य लक्ष्य की ओर पीठ कर ले और संसार-प्रपंच की ओर देखने लग जाये तो वह अवश्य दुर्गतिपूर्ण अशान्ति को प्राप्त होगा।

धर्म के पथ में जो सत्य लक्ष्य का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण सत्य से विमुख होकर संसार को ही देखते रहते हैं, ऐसे मनुष्य देहाभिमानी होकर सांसारिक पदार्थों में तथा उनके कल्पित सुखों में आसक्त रहते हैं, और इन्हीं की अनुकूलता में रागी एवं प्रकूिलता में द्वेषी होते हैं। ऐसे मनुष्य रागद्वेषवश अपनी अहंगत कामनाओं, वासनाओं की पूर्ति के लिए, दुराचारी, अनाचारी, व्यभिचारी होकर अपनी प्रकृति को दुर्भावों से ही भरते रहते हैं। कभी-कभी शक्ति के गर्व में भयानक क्रूरतापूर्वक पशुहिंसा अथवा नरहिंसा तक करते हुए भी अपने को धर्मानुयायी कहते हैं। दूसरी ओर उस पथ में जिन मनुष्यों को सत्य लक्ष्य का ज्ञान होता है वही सत्य के सम्मुख होकर सद्गतिशील होते हैं।

ऐसे मनुष्य निरभिमान भाव से देहासक्ति, विषयासक्ति का त्याग करते हुए केवल सत्यानुरागी होते हैं वे उसी पथ पर चलते हुए अहिंसात्मक सत्कृत्यों द्वारा सदाचार, सद्-विचार, सद्व्यवहार-पूर्वक अपनी प्रकृति को दिव्य बनाते जाते हैं। अपने को धर्मानुयायी मानते हुए ही यवन लोग नंगी तलवारों की साया में गुरु गोविन्द सिंह जी के किशोरवय बालकों को दीवाल में जीवित चुन देते है, धर्म के नाम पर ही वीर बालक असीम उत्साह और धैर्य के साथ अपनी जीवन का बलिदान कर देते हैं। ये बालक संसार के विविध सुखों के सामने पीठ करके सत्यानन्द की ओर उन्मुख धर्मपथ के वीर पथिकों में प्रमुख कहलाने योग्य हैं और दूसरे धर्मान्ध अत्याचारी लोग सत्य की ओर पीठ करके संसार के भोग-सुखों की ओर पतित होनेवाले क्रूर पथिकों के अग्रणी कहे जा सकते हैं। ऐसे व्यक्ति, धर्म के नाम पर अपने स्वार्थो की ही सिद्धि के लिए, अपने ही समान दूसरे मनुष्यों पर घोर अत्याचार करते आ रहे हैं, भयंकर यातनाओं से पीड़ित करते हुए अपने स्वार्थ की सिद्धि में होती हुई अपनी अधोगति को ही धर्म-पथ में प्रगति मानते हैं, और पहले प्रकार के सत्य लक्ष्य की ओर आरोहण करनेवाले व्यक्ति अन्यायियों के घोर अन्याय का विरोध करते हुए आदर्श धीरता, गम्भीरता एवं वीरता का आश्रय लेकर सद्गति, परमगति के द्वारा परम शान्ति को प्राप्त होते हैं।

सत्य लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना ही परम पुरुषार्थ है। किसी मनुष्य की जो कुछ भी सद्गति, परमगति होती है, वह उसके जीवन की चेतनाशक्ति के सदुपयोग से ही होती है। धर्म-पथ को चाहे जिस नाम से सम्बोधित करें, यदि यात्री उसका आश्रय लेकर परमोत्कृष्ट सत्य की ओर जाता है तो यात्री में शक्ति सदुपयोगपूर्वक सतत प्रगति के कारण महत्ता, तेजस्विता तथा अन्ततः सफलता निश्चय ही प्राप्त होती है। यही धर्म-पथ के पथिक का परम पुरुषार्थ है।

यह धार्मिक की सामर्थ्य ही तो है कि वह धर्म पथ पर ऊपर की ही ओर चढ़ता चला जाय, नीचे की ओर कभी देखे ही नहीं। नीचे की ओर तमसाच्छादित, प्रपंच, मायावेष्टित तथा दुःखपूरित संसार है और ऊपर की ओर ज्ञानालोकित, निरावरण आनन्दघन, परम शान्तिमय सत्य है। धर्म पथ में अधोमुख गति का होना ही धर्म का दुरुपयोग है। ऊर्ध्वमुख गतिशील होना ही धर्म का सदुपयोग है।

माना हुआ धर्म और जाना हुआ धर्म

अविवेकी मनुष्य शान्ति की आाशा से ही माने हुए प्रचलित धर्मों की शरण लेकर केवल मन मनाते हैं और विवेकीजन सावधान होकर सद्गुरु, सत्‌शास्त्र और स्वानुभव द्वारा जाने हुए धर्म पथ से गतिशील होकर परमोत्कृष्ट सत्यधाम में पहुँच जाते हैं ।

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

'धर्म का सर्वस्व अर्थात् सार सुनना चाहते हो तो सुन लो और समझ लो कि, जो अपने लिये न चाहो वह दूसरों साथ मत करो, और जो अपने लिये चाहो वही दूसरों के लिये भी चाहो, दूसरों के साथ भी करो।'

परहित सरित धर्म नहि भाई।
परपीड़ा सम नहि अधमाई।।

इसी प्रकार- अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्।।

--- --- ---

युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति।।

'जीवन अनित्य है इसलिए युवावस्था से ही (जब से समझे तब से ही) एकमात्र धर्म का आश्रय लेकर (सत्य लक्ष्य की ओर) चलना चाहिए। कौन जानता है, किसकी मृत्यु आज ही नहीं हो जायगी।''*

----

* धर्मतत्व को जानने की इच्छा रखनेवाले पाठकवृन्द् 'सत्यान्वेषण' नाम की पुस्तक में 'धर्मदर्शन' नाम का शीर्षक पढ़ें।

दुःख की महिमा

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः।।

'विपत्ति यर्थाथ में विपत्ति नहीं है, सम्पत्ति भी सम्पत्ति नहीं है। वस्तुतः व्यापक परमात्मा का विस्मरण होना ही विपत्ति और और उनका स्मरण रहना ही सम्पत्ति है!'

प्रेमी सन्त तो ऐसे सुख से ही उदासीन हो जाते हैं जिसके कारण परमात्मा का स्मरण भूल जाये और परिणाम में दुःख का दर्शन करना पड़े वे कहते हैं-

'सुख के माथे सिल परै, ध्यान हृदय ते जाय।
बलिहारी वा दुःख की, जो पल पल नाम रटाय।।'
'सुख ते ही दुख होत हैं, दुख ते होत विचार।
तबहीं आवत ज्ञान हैं, खोलत आनंदद्वार।।'

दुःख से विचारवान् मनुष्य को कभी घबराना न चाहिये बल्कि धैर्यपूर्वक उसे सहन करते हुए शक्तिमान् प्रभु का आश्रय लेना चाहिये। सन्तों की सम्मति भी यही हैः-

रन वन व्याधि विपत्ति में, रहिमन मरिय न रोय।
जे रक्षक जननी जठर, वे हरि गये न सोय।।

विवेकदृष्टि के द्वारा यह अनोखी बात भी समझ में आई कि जिस दुःख से प्राणीमात्र भागते हैं, वह तो जीव के कल्याण करने में परम सहायक सखा है। दुःख बड़े महत्व की वस्तु है। जब जीवन दोषों का कोष बन जाता है, तभी दुःख की कृपा होती है, क्योंकि दोष ही दुःख का एकमात्र भोजन है।

दुःख के भय से कैसे मुक्त हों

यदि मानव-जीवन में ऐसी भी कोई स्थिति या अवस्था है, अथवा मनुष्य के लिये ऐसी भी कोई आश्रय एवं आधार है, जहां दोष न हों, तो निःसन्देह वहां दुःख भी नहीं होगा, प्राणी को वहीं पूर्ण निर्भयता प्राप्त हो सकती है। मानव सृष्टि का जहां तक विस्तार है, उसमें कहीं भी यदि दोषों का

पोषण है तो दुःख के दूतों से छिपाया नहीं जा सकता।

दोष किस प्रकार दूर होंगे

अपने दोषों को देखना और स्वीकार करना बहुत बड़े साहस का काम है, ऐसे साहस के द्वारा ही कोई मनुष्य पवित्र सत्यपथ में कदम बढ़ा सकता है। ऐसे साहस के द्वारा ही दोषों का दमन भी हो सकता है। इस प्रकार का साहस जितेन्द्रिय पुरुषों की ही विशेषता है, क्योंकि सच्चे साहस में अधीरता अथवा अन्धाधुन्ध आतुरता (जल्दबाजी) नहीं होती। यदि दोषी इस प्रकार के साहस का आश्रय ले तो शीघ्र ही दोषों से पूर्णतया बाह्याभ्यन्तर मुक्त हो जाय।

दोषों से मुक्त होने के लिये जिन सद्‌गुणों की परमावश्यकता है वे या तो दुःख के द्वारा सरल तथा विनम्र हुए हृदय में जाग्रत् होते हैं, या फिर दुःखियों की सेवा से विकसित होते हैं। इसीलिये दुःख और दुःखियों को भूलकर भी अनादर न करना चाहिये। दुःख के साथ-साथ दुःखियों का सतत संग आत्मोद्धार के लिये परम आवश्यक है।

लोग दुःख के महत्व को न समझकर ही उसका अनादार करते है। वस्तुतः दुःख ही मनुष्य को पतन-गर्त में गिरने पर या गिरने के पहले ही सावधान करनेवाला है, इसके अभाव में प्राणी के प्रस्खलन की कोई सीमा ही न रहती। दुःख दोषों के पोषण को अधिक दूर तक सह ही नहीं सकता। इसीलिये एक सीमा अतिक्रमण होते ही वह रुद्र रूप से जीवन में उतर पड़ता है। उसके उत्ताप में जब जब अन्तःकरण की मलीनता जल जाती है और दोषी की विचार दृष्टि खुलती है तभी दुःख की अद्‌भुत महिमा दिखलाई पड़ती है।

दुःख और दोषों का सम्बन्ध

बुद्धि जब निष्पक्ष एवं पवित्र होती है तभी समझ में आता है कि यदि कोई दुःख को दूर करना चाहता है तो अपने दोषों को दूर करें। अब देखना यह है कि दोषों का जन्म कहाँ से होता है, क्योंकि जहाँ दोषों का जन्म होता है वहाँ से दुःख का शासन भी प्रारम्भ हो जाता है।

विवेक दृष्टि से स्पष्ट दिखता है कि समस्त दोषों की उत्पत्ति का एकमात्र कारण अज्ञान ही है; क्योंकि अज्ञानवश मनुष्य वासना प्रेरित होकर संसार में आते ही विविध पदार्थों में तथा अपने अनुकूल सम्बन्धियों में अपने

सुखों की कल्पना निर्भर करता है। यहीं से सुखासक्तिरूपी दोष उत्पन्न होता है औ उसी समय से दुख का शासन प्रारम्भ हो जाता है।

अज्ञानवश सुखासक्ति के कारण समय-समय पर सुखद पदार्थों का अभाव प्रतीत होता है, जहाँ अभावरूपी दोष है वहीं दुःख का दर्शन है किन्तु मनुष्य अपनी सीमित शक्ति के अभाव की पूर्ति कर्म के द्वारा करता जाता है। वह इसी में सुख मानता है, लेकिन अज्ञानवश यह नहीं जानता कि अभाव की पूर्ति कहीं स्थिर नहीं है।

एक अभाव की पूर्ति होते-होते दूसरे प्रकार का अभाव खटकने लगता है, इसीलिये अभाव पूर्ति में जो सुख प्रतीत होता है वह क्षणिक ही होता है। इसीलिये दोष के साथ दुःख की क्रिया चलती रहती है। यदि मनुष्य कर्म द्वारा अभाव की पूर्ति में सुख न मानकार सत्‌ज्ञान द्वारा अभाव दोष को ही नष्ट कर दे तो दुःख की आवश्यकता ही न रह जाय।

संसार में ऐसा कोई सुख नहीं जिसमें दोष और दुःख न हो

अज्ञानवश ही मनुष्य सुख को संसार में खोज रहा है और इसी कारण दोषों का पोषण हो रहा है। सुख का लोभी न तो अपनी ही उन्नति कर सकता है न दूसरों की ही, क्योंकि उससे तब तक दोषों की वृद्धि होगी, जब तक दुःख के संग से सत्यानन्द का ज्ञान न होगा और सन्मार्ग में चलने के लिये वह सुखों का त्याग न करेगा।

संसार में सुख के संग से ही प्रायः सभी पतित हुए और दोषी बने, किन्तु जब दुःख की कृपा हुई तो दुःख के ही संग से सभी पावन हुए, दुख की छत्रछाया में हर एक का उत्थान हुआ। सुख के लिए चिन्तित व्यक्ति पर दुख की दृष्टि पड़ने लगती है और सुखी हो जाने पर तो दुःख का पूरा निशाना ही बन जाना पड़ता है। अन्त में सुखी के लिये वह क्षण आ ही जाता है, जब दुःखाघात से उसे होश का वह मुहूर्त प्राप्त होता है जब कि यह देख सके कि हम कहाँ है और क्या हैं?

दुःख से असीम उपकार

दुःख की अत्यन्त अद्‌भुत महिमा है। प्रायः मनुष्य दुःखों से डरते हैं,

पर यह नहीं जानते कि इस संसार में यदि कोई आया तो सुख की माया में मुग्ध होकर ही आया और यहाँ जो कोई बन्धन से जकड़ा गया तो सुख की मादकता में मतवाला होकर ही जकड़ा गया, साथ ही यहाँ जो भी बन्धन से छूटा व दुःखों की ही कृपा से छूट सका।

इस जगत् की छद्मवेशी आकृति का यदि किसी को ज्ञान हुआ, तो दुःख की ही दया से ज्ञान हुआ। पापी से कोई धर्मात्मा बना तो दुख ही के शुभ मुहुर्त से उसने यात्रा की। अज्ञान-अन्धकार से यदि कोई ज्ञान प्रकाश की ओर वापस हुआ तो दुःख ने ही उसे लौटने का बल दिया।

दुःख की तो विशेषता ही यही है कि वह जीवन को शुद्ध करने आता है, विनाशपथ में जाने वाले पथिकों को अमृत का मार्ग बताने आता है, अन्धकार में भूले हुओं को प्रकाश का ज्ञान कराने आता है। यह दुःख ही तो अधर्मी को धर्म की ओर, रागी को त्याग की ओर, द्वेषी को प्रेम की ओर, स्वार्थी को परमार्थ की ओर प्रेरित करने और पथ प्रदर्शन करने आता है।

बुद्धिमान् पुरुष जब दुःख से होने वाले महान् लाभ को समझ लेते हैं, तब वे दुःख के आते ही सावधान होकर अपने दोषों का गहराई से निरीक्षण करते हैं क्योंकि वह जानते हैं कि दोषों के हुए बिना दुख आ ही नहीं सकता। दोषों की उत्पत्ति सुख के लोभवश होती है, और संसार में सुख का लोभ अज्ञानवश ही होता हैं।

यह अज्ञान दूर होता है ज्ञान से और ज्ञान की प्राप्ति विचार करने पर ही होती है, वह विचार की दृष्टि दुःख की दया से खुलती है। दुख सुख दोनों संसार की वस्तुएँ हैं परन्तु दुःख मनुष्य को संसार के प्रत्येक बन्धन से मुक्त करने का द्वार खोलता है जबकि सुख प्राणी को संसार में सभी प्रकार से बाँधता ही रहता है।

सुख से भोग में और दुःख से योग में प्रवृति होती है। जहाँ यह सुख मनुष्य को विविध वैभव ऐश्वर्य में मदोन्मत्त बनाता है, जहाँ यह ऐहिक बल-विभूतिसम्पन्न जनों को अभिमानी एवं कठोर बनाकर झूठे परिवर्तनशील पदार्थों के स्वामित्व का भोगी बनाकर, रोगी और शक्तिहीन कर देता है, वहीं पर दुःख हर एक अभिमानी तथा मदोन्मत्त मानव के ऐश्वर्य, वैभव और मद को अपने आधात से चूर्ण करते हुए उसे सरल एवं विनम्र बनाता है।

भयानक से भयानक पशु प्रकृति प्रधान मनुष्य के सुधार का शुभ मुहूर्त

इस दुःख के द्वारा सत्वर ही प्राप्त हो जाता है। आलसी-प्रमादी को कर्तव्यपरायण, कंजूस को दानी, क्रोधी को दयालु, क्षमाशील और कठोर को नम्र बनानेवाला यह दुःख ही है।

जब मनुष्य के अज्ञानजनित दोषों को शक्तिमान् का भय नहीं दूर कर सकता, जब उन्हें सन्त सद्गुरुदेव अपने उपदेश से भी नहीं मिटा पाते, जब दोषों की अधिकता में वेद, शास्त्र, श्रुति, स्मृति की भी कुछ नहीं चलती, तब वहीं परमशक्ति की विलक्षण लीला से एकमात्र दुःख को ही सफलता प्राप्त होती है, जो दोषों को खाते हुए कभी थकता ही नहीं। अन्ततः दुःख की ही विजय होती है।

जो बोयेंगे वही काटेंगे

आप इस बात को न भूलिये कि संसार के शक्तिमय क्षेत्र में जो कुछ भी बोयेंगे उसी को कई गुना अधिक फल के रूप में काटेंगे। जो देंगे वह कई गुना अधिक होकर आपको मिलेगा। यदि आप दुर्गुण-दोषों की प्रकृति द्वारा अपने आसपास दुःख बिखेरते रहेंगे तो इन्ही के विस्तार में आपका जीवन घिरता जायगा और यदि अपनी सद्गुणी प्रकृति द्वारा अपने चतुर्दिक सुख फैलाते रहेंगे, तो अनेक गुना बढ़कर यही आपके चारों ओर स्थित होगा। यदि आप सुखभोग से दोषों की वृद्धि का स्मरण करके भोगी न बनेंगे तभी आपको सत्यानन्द का योग प्राप्त होगा, अन्यथा नहीं।

वे मनुष्य तो निरे मूढ़ ही हैं जो स्वयं किसी को सुख नहीं देते बल्कि दूसरों को दुख देकर उनका सुख छीनते रहते हैं। ऐसे प्राणियों को छीने हुए सुख से भला कब तक सन्तोष मिलेगा?सुख तो वैसे ही न रहेगा प्रत्युत दिया हुआ दुख ही विस्तृत होकर इनके पल्ले पड़ेगा।

किसी को दुःख देकर सुख पाया भी तो कितने दिन के लिये?इसलिए आप उस परवश सुख का लोभ ही त्याग दीजिये और जो कुछ भी आपके पास सुख हो उसकी रक्षा के लिए दरिद्र, कंजूस न बनिये, बल्कि उदारतापूर्वक उसे किसी दुखी को देते रहिये। ऐसा करने से आप ऐसी शान्तिरूपी सम्पत्ति के धनी होंगे जिसके आगे सांसारिक सुख-राशि का कुछ मूल्य ही न रह जायगा।

दुखी की भयानक भूल

जिन दोषों के कारण दुःख का दर्शन होता है, उन दोषों को जब तक दुखी

अपने भीतर नहीं देख पाता, तब तक दुःख के आने पर प्रायः वह दूसरों पर ही दोषारोपण करते हुए, दूसरों को ही अपने दुःख का कारण ठहराता है और स्वयं दुखी होते हुए अपने समीपवर्तियों के पास भी दुःख भेजता रहता है। इस प्रकार एक दोष के दुःख से मुक्त न होते हुऐ नये दोषों को पहले दोषों के द्वारा बढ़ाता रहता है। दुःख अज्ञानजनित दोषों को ही खाने आता है फिर भी यह न जानने के कारण दुखी मनुष्य उस दुःख को अपना काम पूरा नहीं करने देता, सुख की चाहना में जहाँ तक उपाय काम देते हैं वहाँ तक दुःख को दूर भगाता रहता है। इसी कारण दोषों के द्वारा ही सृष्टि बढ़ती है, पुनः नवीन-नवीन दोषों को मिटाने के लिये दुःख का बार-बार आगमन होता रहता है, क्योकि दोष ही तो दुख की खुराक है।

दुखी को दुखों से न डरकर दोषों से डरना चाहिये। दुःखों को हटाने की चेष्टा न करके दोषों को मिटाना चाहिये। जहाँ दोष न रहेंगे वहाँ दुःख कदापि न आयेगा। दोषों पर ध्यान न देना तथा दुःखों से डरना और सुखों के पीछे पागलवत् दौड़ना दुखी की अज्ञानजनित भयानक भूल है।

दोषों का अन्त होने पर ही दुःखों का अन्त

जिन पर अपना स्वतन्त्र अधिकार नहीं उन्हें अपना मान लेना और अपने आपको भूले रहना यही समस्त दोषों का मूल है।

आप कितने ही प्रकार के जप तप और व्रतादि साधनों का आश्रय ले और कदाचित् अपने आराध्य देव के समीप ही पहुँचकार क्यों न रहने लगें, फिर भी जब तक आपमें अज्ञानजनित सम्बन्धासक्ति एवं पदार्थाभिमान रूपी दोष रहेंगे तब तक दुःख से मुक्त नहीं हो सकते। इसीलिये ऐसा कुछ प्रयत्न कीजिये कि समुचित रूप से सत्संग सुलभ रहे, क्योंकि तभी आपमें विचार (विवेक) जागृत होगा। उसी के बल से आप कहीं भी माने हुए सुखों में आसक्त न रहकर सभी ओर से पूर्ण विरक्त हो जायेंगे, तभी अनायास ही दुःखों का अन्त हो जायगा।

दुखी होकर दुःखों से मुक्त होने का उपाय करने वाले व्यक्ति वस्तुतः विचार्वान हैं। उन्हें फिर संसारबन्धन का भय नहीं होता। लेकिन अज्ञानीजन दुखी होकर पुनः उसी सुख प्राप्ति की इच्छा से संसार की ही शरण लेते रहते हैं, जिस सुख के कारण ही वे दोषी बने हैं और दुखी हैं।

संसार से मिलनेवाले सुख के लिये अज्ञानी मनुष्य इतने दरिद्र होते हैं कि परस्पर अपने ही समान दूसरे प्राणियों को सुख के लोभ वश अनेकानेक दुःख देते रहते हैं, परन्तु परिणाम यह होता है कि अपने ही दिये हुए दुःख के प्रत्यावर्तन से अधिकाधिक दुःख के भार से दबते ही जाते हैं। कोई भी मनुष्य दोषों का अन्त किये बिना दुख से रहित नही हो पाते। अपने दोषों को जानना और उन्हे दूर करना सौभाग्यवान् पुरुषार्थी का ही काम हैं।

सुखियों का कल्याण किस प्रकार होता है

यद्यिपि सुखियों को कल्याण के पथ में आना तब तक अति कठिन है जब तक उनके सुखद पदार्थों का वियोग न हो। ऐसा होने के पहले सौभाग्यवश यदि सन्त संग सुलभ हो जाता है तो उस सत्यप्रसंग में सुखी को अपना सुख तुच्छ प्रतीत होने लगता है। तदनन्तर दुःख का दर्शन होते ही विचार दृष्टि खुल जाती है और उस भाग्यवान् को सुखद पदार्थो के बीच में रहते हुए भी दुःख के मूल कारण दोषों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार दोषों को जान लेने पर यदि कोई विचारवान् दोषों को निवृत्त करने के लिये कटिबद्ध हो जाये और सद्गुणों का भी भोगी न बने तो अवश्य ही वह सुख-दुःख के परे परमशान्ति की ओर बढ़ता चला जायगा। सन्त संग के सहारे सन्मार्ग में चलते हुए सुखीजनों का भी कल्याण हो जाता है, ऐसे लोगो के लिये भी रुकावट केवल अन्तःकरण शुद्ध न होने तक ही रहती है क्योंकि शुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्ति ही धर्मात्मा हो सकते हैं और धर्म के द्वारा ही सद्गति होती है। शुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्ति को ही यथार्थ रूप से सद्-असत् को ज्ञान होता है तथा ज्ञान से ही परम गति प्राप्त होती है। शुद्ध अंतःकरण वाले व्यक्ति ही सच्चे प्रेमी होते हैं और प्रेम से ही परम शान्ति मिलती है। शुद्ध अन्तःकरणवाले महानुभावों को पूर्ण तत्व का बोध होता है, और तत्वबोध से ही मुक्ति मिलती है। यह अन्तःकरण की शुद्धि दोषों के पूर्ण निवृत होने पर होती है तथा दोषों का ज्ञान दुःख के द्वारा विचार उतपन्न होने पर ही होता है। अतः साधक सज्जनों! दुःख का तिरस्कार न करो, वरन् विचार के द्वारा दोषों को दूर करो।

अन्तःकरण के चार प्रधान दोष

मन में सत्य अथवा स्थिर तत्व का योग न होने के कारण चंचलतारूपी

दोष है, इसी से दुर्बलता रहा करती है।

चित्त में असत् सम्बन्ध के कारण असत् चिन्तन होते रहने से मलिनतारूपी दोष है, इसी से खिन्नता रहा करती है।

बुद्धि में ज्ञानी सन्त पुरुष का संग न मिलने के कारण अज्ञानरूपी दोष है, इसी से मनुष्य में मूढ़ता रहा करती है।

अहं में देहादिक पदार्थो के प्रति ममतारूपी दोष है, इसी के कारण आशक्तता एवं जड़ता रहा करती है।

दोषों की निवृत्ति कैसे होती है

जगत् के देहादिक असत् पदार्थों एवं विषय-सुखों से वैराग्य दृढ़ होने पर, जब अभ्यास के द्वारा एक सत्याधार में मन स्थिर होता है, तभी इससे चंचलतारूपी दोष की निवृत्ति होती है। मन के स्थिर होने पर एक सत्पदार्थ के चिन्तन में जब चित्त तल्लीन होता है, तभी इससे मलिनतारूपी दोष दूर होता है।

मन तथा चित्त के स्थिर और शुद्ध होने पर ही मानव बुद्धि स्वस्थ एवं शान्त होकर सन्त सद्गुरूदेव से सुसंग से सद्ज्ञान प्रकाश पूर्ण होती है, इसी से अज्ञानरूपी दोष का नाश होता है। सद्ज्ञान प्रकाश में ही अहं का मिथ्या पदार्थों के प्रति अहमन्यतारूपी दोष सत्स्वरूपाभिमान में परिणत हो जाता है, इसी से जड़तारूपी दोष की निवृत्ति होती है।

विवेकी दोषों से रहित होता है

बुद्धिमान् विद्वान् पुरुष बार-बार सुख के पीछे मिलने वाले दुःख से जब शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं, अथवा सुख-दुख के स्वरूप को भली प्रकार जान लेते हैं तब उस सुख को नहीं चाहते जो दूसरो को दुख देने पर मिलता है; बल्कि ये विवेकी पुरुष अपने दोषों के निवारणार्थ दुख को ही अपनाये रहते हैं और केवल उसी सुख को चाहते है जो दूसरों को सुख देने पर मिलता है; यद्यपि इस प्रकार के सुख का लोभ भी दोष ही है; क्योंकि अविचार के कारण क्षणस्थायी सुख को महत्व दिया जाता है।

शाश्वत सुख जिसे परमानन्द कहते हैं, विवेक होने पर बिना किसी बाह्य सहायता के, अपने आप में ही स्वतन्त्र रूप से मिलता है।

यथार्थ विवेकी ही विचारदृष्टि से अपने दोषों को देखते हुए उन्हें सतत प्रयत्न से दूर करते हैं, तभी वह अपने पवित्र अन्तःकरण से सत्गुणों को चरितार्थ कर पाते हैं सदसद् विवेकी पुरुष अपनी ओर से सुखाभिलाषियों को न्यायानुसार सुख तो देते रहते हैं लेकिन दूसरों से स्वयं वे सुख की कामना नहीं रखते; क्योंकि इन लोगों को दुःख के संग से सुख के मायिक रूप का ज्ञान हो चुका है, ऐसे विवेकी जन दुःख पाकर फिर सुख के लिये पीछे नहीं लौटते, बल्कि दुख के आगे विवेक- प्रकाश में आनन्द के उस द्वार को देखते हैं जिसमें प्रवेश करते ही सुख-दुःख की चर्चा ही समाप्त हो जाती है। ऐसे विवेकी सत्पुरुषों का सुसंग जब कभी किसी दुखी मनुष्य को सुलभ हो जाता है तभी उसे अपने दुःखों के कारण का ज्ञान होता है, और तभी वह दुखी ज्ञानी सत्पुरुष की शरण में रहकर स्वयं निर्दोष होकर ज्ञानी हो जाता है।

विवेकी-ज्ञानी सत्पुरुष की आज्ञानुसार कर्म करने से ही जीवन दोषों से रहित हो सकता है और तभी दुःखों की निवृत्ति होकर परम शान्ति की स्थिति सुलभ होती है।

निर्दोषों पर दुखियों के संग-दोष का प्रभाव

अपने स्वार्थ सुख का त्याग करते हुए दुगुण दोषों से मुक्त होने पर भी यदा कदा दोषियों के संग-दोष के कारण परोपकारी दयालु, महानुभावों को भी दुःख का दर्शन करना पड़ता है।

संसार के सुख से सुखी और दुःख से दुखी होने वाले प्राणी अज्ञानवश दोषों का ही पोषण करते रहते हैं। इसीलिए इन सुखियों एवं दुखियों से सम्बन्ध होने पर संक्रामक रोग की भाँति उनके दोष-दुख का प्रभाव निर्दोषी व्यक्ति पर भी पड़ता है। उस कुप्रभाव से बचने के लिये दुखियों का हित करते हुए मन से इनका संग त्याग देना चाहिए, क्योंकि सबसे असंग होने पर ही अपना पूर्ण निर्दोष स्वरूप प्रकट होता है। परम प्रभु की कितनी बड़ी दया है कि सदोष जीवन को बार-बार दुःखों के द्वारा निर्दोष होने की प्रेरणा मिलती रहती है।

निर्दोष जीवन

निर्दोष जीवन वही है जहाँ अन्तःकरण के किसी स्तर में, संसार के सुखों की भूख नहीं रह गई है, संसार के पदार्थों एवं सम्बन्धियों के प्रति

अपनत्व का अभिमान नहीं रह गया है और जो सुखियों, दुखियों के समुदाय में रहते हुए अपने निर्दोष स्वरूप में समस्थित है। इसी प्रकार अनेक संग और संगियों के बीच में जो असंग पद को प्राप्त कर रहा है, वही सब प्रकार से निर्दोष है, वही सन्त स्वरूप है। ऐसे निर्दोष सन्त सत्पुरुष के संग से ही सुखियों और दुखियों का वास्तविक कल्याण होता है। जिसके अन्तःकरण में दोष नहीं रह गये हैं उसे ही दुखावरण से रहित दिव्यानन्द का दर्शन होता है, यही परम प्रभु का सत्य स्वरूप है। संसार से मिलने वाला कोई भी ऐसा सुख नहीं जो निर्दोष हो, और जिसके पश्चात् दुःख न मिलता हो। अतः सांसारिक सुख से विरक्त होना ही दोषों की दुनिया से दूर हट आना है और दुःखों के भय से मुक्त होकर आनन्दमय धाम में स्थित होना है।

पौरुषेण दुरंतेभ्यः संकटेभ्यः सुबुद्धयः।
समुत्तरन्त्ययत्नेन न तु मोघतयाऽनया।।

'पुरुषार्थ के प्रताप से ही बुद्धिमान लोग बड़े-बड़े संकटों में से शीघ्र छूट कर निकल गए हैं परन्तु हाथ पर हाथ धरे बैठे रहनेवालों को कुछ भी नहीं मिलता।'

इच्छोदयो यथा दुःखमिच्छाशान्तिर्यथा सुखम्।
तथा न नरके नापि ब्रह्मलोकेऽनुभूयते।।

'इच्छा के उदय होने पर जो दुःख होता है वह दुःख नरक में भी नही होता, और इच्छा के शान्त होने पर जो सुख प्राप्त होता है वह सुख ब्रह्मलोक में भी नहीं मिलता।'

दुखों से अगर चोट खाई न होती,
तुम्हारी प्रभो, याद आई न होती।
कभी जिन्दगी में ये आँखें न खुलती,
जो सद्गुरु से मेरी रसाई न होती।
कहीं पर मुझे चैन मिलती न जग में,
जो तुमसे ये तसकीन पाई न होती।।
मेरे नाथ तुमको कहाँ कौन पाता,
जो मिलने की सूरत दिखाई न होती।।
'पथिक' ऐसे पापी भी कैसे सुधरते,
तुम्हारे यहाँ जो सुनाई न होती।।

मानना और जानना

यथा भावितमेतेषां पदार्थानामतो वपुः।
अभ्यासजनितं भाति नास्त्येच परमार्थतः।। (योगवसिष्ठ)

'पदार्थों का स्वरूप परमार्थतः कुछ भी नहीं है, अभ्यास द्वारा उनके प्रति जैसी भावना दृढ हो जाती है वैसे ही वे प्रतीत होते है।'

संसार में हर एक वस्तु से और हर किसी व्यक्ति से माना हुआ सम्बन्ध है। यही नहीं, यहाँ का सुख और दुःख सब माना हुआ ही है। लेकिन यह मानने और जानने का गुप्त भेद तभी दिखाई देता है जब कभी मनुष्य को सुयोगवश सन्त-सद्गुरू का समागम सुलभ होता है।

जैसा संग वैसा ज्ञान

प्रत्येक प्राणी जहाँ कहीं जन्म लेता और बाल्यकाल से जिस प्रकार के मानव समुदाय में रहता है उसी प्रकार के संस्कारों का प्रभाव उसकी इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर पड़ता है।

जो कुछ मनुष्य सीखता, समझता है और कहता है, उसके विषय में यह कभी नहीं सोचता कि मैंने यह सब बातें मानने वालों से ही सुनी समझी हैं या जाननेवाले ज्ञानी सत्पुरुषों से जानी है। कोई बिरले मनुष्य यह प्रश्न उठाते हैं कि मैंने अभी तक यह सब कुछ माना ही है या जाना भी है। सभी लोग जिस प्रकार की प्रकृति के प्राणियों का संग करते हैं उसकी प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान के अनुसार भाव बनते हैं, भावानुसार क्रिया होती है और उसी प्रकार कर्मों का फल भोगना पड़ता है। कर्मफल-भोग के अनुकूल प्रतिकूल संघर्षों में कभी न कभी मानव बुद्धि विस्मित होकर यथार्थ सत्य का ज्ञान प्राप्त करने को उत्सुक होती है।

जो व्यक्ति जगत् के पदार्थों एवं सम्बन्धियों के वस्तुतः रूप को न जानते हुए केवल अपना मानते रहते हैं वह अपने समीप वर्तियों को यही सिखाते हैं 'यह भी तुम्हारा है' 'यह भी तुम्हारा है' उसी को अपने अनुकूल पाकर सुनने वाले भी वही कहने लगते हैं, यह भी हमारा है 'यह भी हमारा है' किन्तु जो कोई

सौभाग्यवश जानने वालों के संग में रहने लगता है तब उनका उपदेश जगत् के पदार्थों एवं सम्बन्धियों के प्रति यही रहता है कि यह भी तुम्हारा नहीं है- यह भी तुम्हारा नहीं है, ज्ञानियों के संग से यही निश्चय दृढ़ हो जाता है कि जगत् के नश्वर पदार्थ हमारे नहीं हो सकते। इसी अवस्था में पहुँचकर मनुष्य मानने और मनन के बन्धन से छुटकारा पाता है, क्योंकि वह अपने सत्संबन्ध को अथवा सत् वस्तु को जान लेता है।

जिस प्रकार अज्ञानवश मनुष्य असत् देह या सम्बन्ध आदि पदार्थों को अपना मानकर उन सबसे अभिन्न भाव रखते हुए उनसे मिल जाता है, उसी प्रकार सद्ज्ञान के द्वारा मनुष्य अपने सत्स्वरूप को, सत्सम्बन्ध को अपना जानकर उसी से तन्मय हो जाता है।

मनुष्य को अपनी अज्ञानता का ज्ञान होना चाहिये

जाननेवाले ज्ञानीजनों के ज्ञानप्रकाश में ही यह ज्ञात होता है कि सर्वसाधारण मनुष्य किसी विषय में यथार्थ ज्ञान नहीं रखते, फिर भी मानने वालों के संग से अपने जीवन की आवश्यकता तथा सम्बन्ध एवं सुख-दुख, हानि-लाभ के साथ धर्म और ईश्वर तक को मानकर ही मन मना रहे हैं, किन्तु जानते नहीं।

मनुष्य को जब अपने ज्ञान का अनुभव होता है तभी ज्ञानाभाव के दुःख से दुखी होकर वह ज्ञानप्राप्ति के लिये ज्ञानीजनों की शरण में जाता है और उनके संग से ज्ञान प्राप्त करता है। लेकिन जिसे न जानते हुए भी जानने का गर्व हो उसको कैसे ज्ञान लाभ होगा?इसीलिये अज्ञानवश झूठे ज्ञान का गर्व रखने वाले मनुष्य अपने माने हुए विविध आधारों में सुख शान्ति आरोपित करके उन्हीं की ओर देख रहे हैं। सत्-असत् के यथार्थ रूप को न जानकार ही नाना प्रकार के द्वन्द्वों में एवं अनुकूलता प्रतिकूलता के संघर्षों में सुधबुध भूलकर माने हुए सुखों की प्राप्ति के लिये और माने हुए दुःखों की निवृत्ति के लिये अपने जवीन की लम्बी दौड़ में अस्तव्यस्त हो रहे हैं।

यथार्थ ज्ञानन होने के कारण ही सांसारिक पदार्थों में आसक्त होकर मनुष्य अपने परमानन्दस्वरूप प्रियतम प्रभु को भूल रहे हैं, और तद्नुसार आघात प्रत्याघात सहते हुए जब कभी सावधान होते हैं, तब भी माने हुए धर्मों की ओट में, माने हुए ईश्वर की मानी हुई पूजा, पाठ, स्तुति, आराधना और उपासना में ये मन मनाते रहते हैं, लेकिन जाननेवालों के संग से जानने का

प्रयास नहीं करते। वास्तव में मानता वही है जो जानता नहीं, जानने के लिये ही माना जाता है।

यह सम्बन्धी कौन हैं

विचार कीजिये! आप जिन निकटवर्ती व्यक्तियों को अपना मानकर उनके अभिमानी बनते हैं, वे सभी आप ही की तरह अपनी वासनाओं के अनुसार प्रारब्ध कर्म से परतन्त्र होकर भोग करने के लिये, अपने कर्मों का हिसाब किसी को देने या किसी से लेने के लिये शरीर धारण करने वाले जीवात्मा हैं। जिस जीवात्मा के प्रति एवं जिस पदार्थ के प्रति जितना ही अपनत्व का भाव होता है उतना ही उसमें रागासक्ति का बन्धन होता है।

जिस समझ से आप माता, पिता, बन्धु भगिनी अथवा स्त्री, पुत्रादि को अपना मानते हैं, वह आपके हृदय से उत्पन्न माना हुआ भाव है। बाल्यकाल से ही यह मानना प्रारम्भ होता है, फिर यही स्वभाव में दृढ़ हो जाता है और यथार्थ ज्ञान हुए बिना नहीं छूटता। दूसरों के सुख दुःख से अपने को जो सुख दुःख प्रतीत होता है, वह केवल उन्हें अपना मानने से ही होता है। अब देखना है कि जिन्हें आप अपना कहते हैं। उनमें आपकी कौन सी वस्तु है।

कर्म-संयोग से पुरुष एक नारी को और नारी एक पुरुष को (जो भिन्न भिन्न जीवात्मा हैं।) अपना मानकर परस्पर बन्धन में बंधते हैं। माने हुए बन्धन के अनुसार ही संयोग वियोग में सुखी दुखी होते रहते हैं। स्त्री पुरुष के पारस्परिक संयोग ऋणानुबन्ध से सम्बद्ध कोई जीवात्मा जब शरीर धारण करता है, तब पुरुष और स्त्री उसे अपना पुत्र माने हुए गर्वित होते हैं। यदि पुरुष से पूछा जाये कि तुमने पुत्र के शरीर को किस प्रकार बनाया तब वह तो मौन ही हो जायेगा लेकिन नारी इस बात को लेकर बोल उठेगी कि मैने नौ मास गर्भ मे रक्खा, अमुक-अमुक कष्ट सहे, इतने दिन दूध पिलाया, पाल-पोसकर मैंने ही तो इसे इतना बड़ा किया है। अब उस माता से यदि पूछा जाय कि अच्छा बताओ, तुमने अपने उदर में किस क्रम से पुत्र शरीर की रचना की है, भोजन करते हुए किन यन्त्रों के द्वारा, किस प्रकार अन्न से तुमने दूध बनाया है?तब माता का गर्व करने वाली नारी भी चुप हो जायगी। विवेक दृष्टि से कोई भी स्पष्ट देख सकता है कि वास्तव में स्त्री उदर में जीवात्मा के शरीर को बनानेवाली स्वयं वह स्त्री नहीं वरन् अदृश्य शक्ति है। वही सबके शरीरों की सच्ची जननी है, और परमात्मा ही जीवात्मा के सच्चे पिता हैं। यहाँ के माने हुए

पिता जीवात्मा को नहीं बनाते, न यहाँ की भाव द्वारा मानी हुई माता शरीर को बनाती है। यह भौतिक जगत् लीलामय की लीला पूर्ति के लिये मायात्मक भाव की मानी हुई नीति रीति ही है।

परमात्मा को ही अपना मानो

यदि आपको सांसारिक पदार्थों एवं सम्बन्धियों को अपना मानते हुए ही सुख प्रतीत होता है तो परमानन्दस्वरूप परमात्मा को अपना मानो, क्योंकि यथार्थ विवेक न होने के कारण अपने सन्तोष सुख के लिये मानने वालों के संग से मानने की आदत पड़ गई है। आपका मन अपनी आदत के अनुसार स्थूल जगत के स्थूल विषयों में सुख मानकर ही सुखद पदार्थों के प्रति मोहासक्त हो रहा है। ऐसी दशा में तो यही ठीक है कि परम शान्ति-स्वरूप परमात्मा को अपना माना जाय, जिससे सांसारिक पदार्थों के प्रति ममता का बन्धन टूट सके, यहाँ पर आपको स्मरण रखना होगा कि जिस प्रकार संसार के माने हुए सुख और सुखद सम्बन्ध स्थिर नहीं हैं उसी प्रकार माने हुए परमेश्वर से मिलने वाली मानी हुई शान्ति भी वास्तविक परम शान्ति नहीं है। वह परम शान्ति तो परमात्मस्वरूप को तत्वतः जान लेने पर प्राप्त होती है।

जिसे मानते हो उसे वस्तुतः जानो

जिस प्रकार माने हुए सांसारिक सम्बन्धियों एवं सुखों को वस्तुतः जान लेने पर विराग तथा त्याग हो जाता है, उसी प्रकार माने हुए परमेश्वर के स्वरूप को तत्वतः जान लेने पर पूर्ण अनुराग एवं पूर्ण योग की सिद्धि होती है। जिस प्रकार संसार आपकी मान्यता के अनुसार सत्य नहीं हो जाता व संसार के माने हुए सुख को आप एकरस स्थिर नहीं पाते, उसी प्रकार माने हुए परमेश्वर से आप आवश्यकतानुसार परम शान्ति नहीं प्राप्त कर सकते। आशा तो सभी मानने वाले परम तृप्त हो जाने की ही करते हैं, परन्तु एक सीमा के पश्चात् सभी को निराशा के दुःख से दुखी होना ही पड़ता है। जानने के पहले परमात्मा को अपना मानने से भी परम लाभ है।

आप अपने माने हुए प्रभु से भय रखते हुए जहाँ तक अपने को अशुभ कर्मों से बचाते हैं, और माने हुए प्रभु की प्रसन्नता के लिये जहाँ तक आप धर्मानुयायी, सदाचारी और सत्कर्तव्य परायण होकर अपने में सद्गुणों का विकास कर पाते हैं, वहीं तक आपको वास्तविक शान्ति, स्वतन्त्रता व निर्भयता

का अनुभव होता है। यह शान्ति केवल दुर्गुणों को त्यागने से और सद्गुणों के विकास से, तद्नुसार सद्व्यवहार से प्राप्त होती है।

जब मानने का इतना सुन्दर फल है तब उस प्रभु को जानने का फल कैसा होगा?यह तो आप जानकर ही अनुभव कर सकेंगे। इसीलिये संसार को मानिये नहीं बल्कि जानिए, क्योंकि इसे जानने पर ही रागासक्ति के बन्धन दुःखों से मुक्त हुआ जा सकता है, और इसी प्रकार परमात्मा प्रभु को भी मानते न रहिए वरन् जानिए, क्योंकि जानने पर ही परमानन्दस्वरूप तत्व का अभेदानुभव युक्त योग सिद्ध होता है।

जिसकी जो वस्तु ली है , उसे दे देना ही स्वस्थ होना है

विचार करके देखिए आप जिन पदार्थों को अपना मानकार गर्वित होते हैं और उनमें आसक्त हैं वह वस्तुएं आपकी नहीं हैं, फिर भी उन्हें आप अपनी कहते हैं। जिस किसी वस्तु में, जिस किसी व्यक्ति में आप जितना अधिक सुख मानते हैं उतना ही अधिक उसमें आसक्त होते हैं। यह आसक्ति ही जटिल बन्धनों एवं दुःखों का कारण रहती है। यदि आप संसार के इन पदार्थों को अपना न मानकर संसार को ही दे दें तो उसी समय से आप आसक्ति के बन्धन से मुक्त होते देखने लगें। संसार की वस्तु संसार की समझो और परम प्रभु की जो वस्तु है उसे उन्हें समर्पण कर दो, यही ज्ञानी का, भक्त का और प्रेमी का परम कर्तव्य है।

इस जगत् की वस्तु जगत् को देकर आगे बढ़ते ही इस जगत् के माने हुए भाव को, और माने हुए ज्ञान को यहीं छोड़ देना होगा। ध्यान रहे यहाँ की कोई भी वस्तु, किसी स्तर के साथ यदि अंतर्जगत् में ले जायेंगे तो वहाँ की वह वस्तु आन्तरिक स्तर में भारस्वरुप होकर आपको यहीं गिरा देगी। अतः अन्तर्जगत् में स्वच्छन्द प्रवेश करने के लिए यहाँ की सारी वस्तुएँ, यहाँ के समस्त माने हुए भाव और वासनायें यहीं त्याग दीजिए। अविचारवश आप माने हुए सुखद पदार्थों एवं सम्बंधों में गुड़ के चींटे की तरह चिपटे रहकर समय-शक्ति का दुरुपयोग न कीजिये; वरन् सावधान होकर धर्म को, कर्तव्य को, सुख एवं दुःख को, जगत् और जगदाधार को तत्वतः जानिये। जानने के लिए जाननेवाले तत्वदर्शी महान् पुरुषों की शरण जाइये। ऐसे सन्तवाक्यों पर बार-बार विचार कीजिये, जो बतलाते हैं कि-

जाने बिनु न होय परतीती।

बिनु परतीत होय नहीं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई।

--- --- ---

परमार्थ के पथ में

जानने का महत् फल

वास्तव में सच्चिदानन्दस्वरूप को जानकर, जाननेवाला उसी अपने ज्ञानाधार में तन्मय हो रहा है। जिस प्रकार सत्यस्वरुप परमप्रेमास्पद को जानकर उसी से मिल जाना है, उसी प्रकार इस संसार से अलग हो जाना है। तभी तो कहा है कि जानने वाला वही हो सकता है जो अज्ञाननिशा की मोहनींद से जाग पड़े। यथा-

जानिय तबहि जीव जग जागा।
जब सब विषय विलास विरागा।।

जिस समय परिवर्तनशील जगत् के माने हुए सुखों और सम्बन्धों का ज्ञान होगा, उसी समय से आप जगत् के सुख और सम्बन्ध से विरक्त हो जायँगे, और जिस समय आपका परमाधार सत्य तत्व का बोध होगा उसी समय से आप उस परम प्रेमास्पद सच्चिदानन्दस्वरुप से अनुरक्त हो रहेंगे। यही है जानने की अर्थात् ज्ञान की कसौटी। अतः मानो नहीं वरन् जानो। ज्ञानी बनो।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।

'इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को समय पाकर समत्वबुद्धि रुप योग के द्वारा अच्छी प्रकार शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष स्वयं अपनी आत्मा में ही अनुभव करता है।'

साधकों से

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ् निरोधो अपरिग्रहः।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तसेवनम्।।

'मौन, अपरिग्रह (सञ्चय न करना, अस्वीकृति), संसार से निराशा, निराशा (निश्चेष्टता), एकान्तसेवन; यह योग के प्रथम द्वार हैं।'

जो बुद्धिमान् पुरुष सावधान होकर विचार-दृष्टि से संसार के पदार्थों को और पदार्थोंके द्वारा मिलनेवाले सुखों तथा दुःखों को, अपने जीवन को, जन्म और मृत्यु को देखने लगते हैं, उन्हीं के हृदय में संसारिक संयोग-वियोग के परे शक्ति, शान्ति और सत्य के योग की जिज्ञासा होती है। इस योग की सिद्धि के लिये अनेकों मतों, सम्प्रदायों और धर्मों में अनेकों प्रकार के साधन प्रचलित हैं। इन साधनों में बहुत साधन ऐसे भी है। जिनको ग्रहण करके अनेकों मनुष्य विविध फलों के लालच में चिरकाल पर्यन्त भूलते हुए समय एवं शक्ति का अपव्यय करते रहते हैं।

बुद्धिमान् पुरुषों को चाहिये कि सांसारिक माया, मोह से मुक्त होने के लिये ऐसे सन्त-सद्गुरुजनों का आश्रय लें जो यथार्थ विवेकी हों, त्यागी-वीतरागी, विज्ञानी और प्रेमी हों। वही निष्पक्ष निर्णय दे सकते हैं, उन्हीं की आज्ञानुसार साधनपथ पर चलने से सद्गति, परमगति और परमशान्ति प्राप्त हो सकती है। सन्त-सद्गुरु का आश्रय लिये बिना जो अपने मनमाने ढंग से साधनों का प्रयोग करते हैं ऐसे अनेकों साधनाभिमानी पुरुष भूलते हुए भटकते ही रहते हैं। वस्तुतः परमार्थसिद्धि के लिये वही उत्तम साधना है जिससे भावों में पवित्रता हो, सद्गुणों का अधिकाधिक विकास हो, ज्ञान का प्रकाश हो, शक्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि हो और सत्य की स्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष सिद्धि हो।

पूजा, पाठ, जप, तप, व्रत, मंदिर, मूर्ति, प्रार्थना, उपासना, साधु, सन्त और भी अन्यान्य साधनों से यदि उपर्युक्त वर्णित लाभ सिद्ध होता है तब तो कोई सी साधना हो उसी के द्वारा अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना है और यदि यह लाभ न दिखाई दे तो सावधान होकर साधक को साधना का संशोधन करना चाहिये।

आत्मकल्याण के लिये, संसार-सागर से पार होने के लिये गुरु वसिष्ठजी भगवान् राम को उपदेश देते है-

सन्तोषः साधुसंगश्च विचारोअथ शमस्तथा।
एत एव भवाम्भोधवुपायास्तरणे नृणाम्।।

'सन्तोष, साधुजनों का संग, विचार और शम, ये चार संसार-समुद्र से मनुष्य को पार उतारने वाले सेतु हैं। मोक्ष का मार्ग देनेवाले यह चार द्वारपाल हैं, इनमें से किसी का सच्चा आश्रय लेने से अन्य भी साथ हो जाते हैं और मोक्ष का मार्ग खोल देते हैं।' साथ ही इन चारों का जो भिन्न-भिन्न फल है सो भी बताते हैं-

सन्तोष परमो लाभः सत्संगः परमा गतिः।
विचारः परमं ज्ञानं शमो हि परमं सुखम्।।

'सन्तोष धारण करने से परम लाभ की सिद्धि होती है, सन्त-सद्गुरु की समीपता से सत्संग का आश्रय लेने से परमगति होती है, सत्संग में सुनी हुई नीति, रीति, प्रीति के अनुसार व्यवहार के विचार करने से परम ज्ञान का प्रकाश होता है और इन्द्रियों समेत मन को स्ववश रखते हुए समत्वयोग में स्थिर रहने से, अर्थात शम से परम सुख की प्राप्ति होती है।'

आत्मकल्याण एवं परम शान्ति की इच्छा रखनेवाले व्यक्तियों को चाहिये कि पूजा, पाठ, कीर्तन जप, तप, व्रत, की क्रिया मात्र में ही आसक्त होकर अन्धविश्वासी न बने रहें बल्कि सत्शास्त्रों का अध्ययन या श्रवण करते हुए साधु-सन्त सद्गुरु के सत्संग से साधन एवं ज्ञान और ध्यान के मर्म को जानें, तदनुसार आचरण करते हुए, मन को पवित्र करें। ऐसा करने से ही भोग-वासनाएँ दूर होंगी, इन्द्रियों की कुत्सित क्रियायें शान्त हो जायेंगी, मन स्थिर रहने लगेगा; तभी बुद्धि सारावलोकनी होगी और सत्य तत्व का बोध सुलभ होगा; यही है साधनों द्वारा परम सिद्धि जिसमें शक्ति, स्वतन्त्रता, शान्ति आदि की प्राप्ति हो जाती है, जहाँ किसी प्रकार का अभाव नहीं रह जाता।

सन्त शब्द- विचारात्तीक्षणतामेत्य धीः पश्चति परं पदं।
दीर्घसंसाररोगस्य विचारो हि महौषधम्।।

'जब मनुष्य की बुद्धि विचार के द्वारा तीक्ष्ण हो जाती है तब कल्याण

का मार्ग सूझने लगता है, क्योंकि विचार ही संसाररूपी रोग की औषधि है।'

संग का परिणाम

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं, तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव।
वासो यथा रंगवशं प्रयाति, तथा सन्तेषां वशमभ्युपैति।।

'कपड़े जैसे रंग से रंगे जाते हैं वैसे ही हो जाते हैं। ऐसे ही जो पुरुष सन्त, असन्त, तपस्वी अथवा चोर का संग करता है, वह वैसा ही हो जाता है।'

प्रत्येक जीवात्मा चैतन्यस्वरुप है इसीलिए वह जिस प्रकार के रुप, रंग; गुण स्वाभाववाली वस्तु के साथ मिलता है उसी प्रकार के रुप, रंग, गुण, स्वाभावमय बन जाता है। तभी तो देह के साथ तन्मय होकर अपने को स्थूल या दुर्बल, काला या गोरा और अमुक जाति का मनुष्य मान लेता है। इसी प्रकार इन्द्रियों के साथ मिल कर विविध विषयों का गृहीता होता है। मन के साथ तद्रूप होकर अपने को सुख-दुःख, हानि-लाभादि द्वन्द्वों को भोक्ता मानता है और बुद्धि के साथ संयोगस्थ होकर अपने को ज्ञानी या अज्ञानी देखने लगता है। यही जीवात्मा जब कभी अपने वास्तविक स्वरुप का अनुभव करता है, तब अपने को सबसे भिन्न देखते हुए एकमात्र परमात्मा को ही परमाधार समझकर उसी की उपासना करते हुए उसी परम सत्य का अभिमानी हो रहता है। यह जीवात्मा जैसा संग करता है वैसा ही इसका अपना ज्ञान होता है, तदनुरूप ही भाव होते हैं एवं भावानुसार ही कर्म करता है और उसी प्रकार के फलों का भोक्ता बनता है।

संसार में जीव के साथ जितने भी बन्धन हैं, जितने भी सुख या दुःख हैं, वे सब देह, इन्द्रिय आदि पदार्थों एवं विविध विषयों के संग से ही उत्पन्न होते हैं; यद्यपि यह सब असत्य है और केवल मन की मान्यता पर ही निर्भर हैं, परन्तु सद्विवेक साथ न रहने के कारण सत्य एवं स्थायी से प्रतीत होते हैं। मनुष्य अपने मन से जिस किसी को अपना मान लेता है उसी का मनन करता है और संग के कारण ही सुखी या दुखी होता रहता है। जो कुछ भी मन के अनुकूल होता है उसी में सुख और प्रतिकूल में इसे दुःख होता है। तभी तो ज्ञानी सत्पुरुषों ने कहा है कि यह मन ही बद्ध है, मन को ही मुक्त होना है। यह मन ही संगवश माया में पड़ता है, और मायामय हो जाता है। पुनः यह मन

ही माया से निकलता है और विशुद्ध चिन्मात्रस्वरुप से मिलकर तन्मय हो जाता है। मनुष्य की वृद्ध या मुक्तावस्था केवल संग पर ही निर्भर है, अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि सब प्रकार के संग से अनासक्त होकर असंग अन्तरात्मा का ही संगाभिमानी हो जाय। उस असंग, निर्विकार तत्व से तन्मय होने के लिये संसार-प्रपञ्च के सम्पर्क से दूर हटना होगा। वैसे तो प्रायः जिज्ञासु-प्रेमी स्थूल शरीर से, संसार के कोलाहल से दूर जा बैठते हैं, परन्तु प्राणमय क्षेत्र से विविध कामनाओं वासनाओं के द्वारा संसार-प्रपञ्च को पकड़े रहते हैं तदनुसार मन में विषयाकार व्यक्तियों की भीड़ लगी रहती है ऐसे व्यक्तियों से तो वे साधक उत्तम हैं जो शरीर से जनसमाज में रहते हुए, प्रारब्धानुसार कर्तव्य कर्मों को पूर्ण करते हुए, प्राप्त भोगों को, स्वामी होकर भोगते हुए (भोगों के दास होकर नहीं) सभी ओर से अनासक्त रहकर अपने सत्यस्वरुप से अनुरक्त रहते हैं।

सबसे असंग होने के लिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा जो कुछ भी ग्रहण होता रहता है उसी को न देखता रहे, बल्कि जिनके द्वारा प्रत्येक विषय-पदार्थ ग्रहण होते हैं उन अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को देखे और इनसे अपना कैसा सम्बन्ध है, 'इसे भी' जाने। इन सबको देखना और इनके स्वरुप को जानना ही इन्हें अपने वश में करना है। इन सबको न देखते हुए, इनके सम्बन्ध और रूप को न जानते हुए इनके ही वश में रहना है।

देह, इन्द्रिय और मन के वशवर्ती व्यक्ति अपने परमाधार सत्य को तब तक नहीं जान पाते जब तक बुद्धि को स्ववश नहीं कर लेते।

साधक पहिले तो अपने मन, चित्त, बुद्धि आदि अन्तःकरण को जगत् के विविध पदार्थों की संगासक्ति से मुक्त करता है और आगे अन्तःकरण आदि साधनों को स्ववश करके इन्हीं के द्वारा परमाधार सत्य का संगानुभव करता है, फिर इनसे भी परे होकर असंग तत्व का योगी होता है। सर्वान्ग सुन्दर रूप से पूर्ण विरक्त होने के लिये मनुष्य अपने सर्वांगों को विषयवासनाओं के संग से दूर रखता है, यही नहीं बल्कि भोगों से भी विरक्त होने के साथ-साथ भोगियों से भी विरक्त होकर अपने परमाधार सत्य से अनुरक्त हो जाता है।

सांसारिक भोग और भोगियों के संसर्ग से दूर रहने के लिये इनकी ओर मन से भी न देखना चाहिये। कदाचित् इनका संयोग हो जाय तो इन पर

किन्चित् भी प्रसन्न न होना चाहिये, क्योंकि जहाँ मन प्रसन्न होगा उसी के प्रति राग बढ़ेगा। इसी तरह किसी पर रोष भी न करना चाहिये; क्योंकि रोष करने से भी उसी का संग होगा और इस संग से द्वेष बढ़ेगा। यह राग और द्वेष का रोग जितना ही बढ़ जाता है उतनी ही अधिक औषधि करनी पड़ती है। परमार्थी साधक बहिर्मुख वृत्तिवाला न रहकर अन्तर्मुख वृत्तिवाला होता है; तभी वह अन्तरात्मा का संगी होता है।

परमार्थी साधक का बहिरात्मा स्थूल जगत् के पदार्थों का संग छोड़कर जब अन्तरात्मा का आश्रय लेता है तभी इसके अन्तर्गत दोषों की निवृति होती है। अन्तरात्मा बहिरात्मा को पूर्ण पवित्र करते हुए आत्मसात् कर लेता है और तभी परमात्मा का दिव्य अनुभव होता है। परमात्मा के शरणापन्न होने में ही पूर्णरुपेण दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है।

संसार में स्वार्थी, परार्थी और परमार्थी बनाने वाले अनेकों प्रकार के संग का परिणाम भली प्रकार स्पष्ट हो गया। जैसा संग होगा वैसा ही रंग हो जायगा। एक संग से जीव पतित होता है, बन्धन में पड़ता है, दुखी होता है, और एक संग से यह पावन होता है, मुक्त होता है, आनन्द को प्राप्त करता है। संसार में प्रधान रुप से दो प्रकार के संग हैं, एक असत्संग और दूसरा सत्संग। इन दोनों का अशुभ और शुभ परिणाग विचारवान् पुरुषों से छिपा नहीं है। असत्संग से संसार का संयोग होता है और सत्संग से सत्याधार का योग होता है। भगवान् स्वयं श्री मुख से कहते हैं-

व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम्।।

'व्रत, देवपूजा रुप यज्ञ, मन्त्र, छन्द, तीर्थ, अन्तःकरण संयमरूप यम, यह सब संगवर्जित मुझे वश में नहीं कर सकते जितना कि मैं सत्संग से वश में होता हूँ।'

मन को स्थिर करने का उपाय

कोई भी वस्तु जितनी ही हलकी होती है उतना ही वह हिलती है अथवा चंचल रहती है। इसी प्रकार यह मन इतना सूक्ष्म तथा हलका है कि किंञ्चित् वासना, कामना एवं इच्छा के स्फुरण मात्र से चंचल रहता है, इसे स्थिर करने के लिये अनेकों उपायों में से तीन उपाय मुख्य हैं। जिस प्रकार किसी हलकी वस्तु को किसी भारी पदार्थ से बाँध देने पर वह नहीं हिलती, या उसे सदा

पकड़े रहने से वह चंचल नहीं होती, अथवा स्वयं ही उस वस्तु के ऊपर बैठे रहने से वह स्ववश हो रहती है; उसी प्रकार भक्तजन इस चंचल मन को परमोत्कृष्ट महान् तत्व से बाँध देते हैं। दूसरे जो योगाभ्यासी लोग हैं वह अपने मन को सदा अभ्यास के द्वारा पकड़े रहा करते हैं, और ज्ञानीजन तो स्वयं उसके ऊपर चढ़कर बैठ जाते हैं। तभी यह सूक्ष्म, वायु से भी अधिक वेगवाला मन चंचल नहीं होता।

जिस तरह से भी हो साधक के लिये मन की स्थिरता और पवित्रता की सर्व-प्रथम आवश्यकता है, क्योंकि इसके बिना पूर्ण योग की सिद्धि नहीं हो सकती। मन की स्थिरता में ही परम शान्ति का अनुभव होता है। मन की स्थिरता और पवित्रता के लिये सतत अभ्यास और पूर्ण वैराग्य तो होना ही चाहिये। इसके साथ-साथ सत्संग द्वारा सत्-असत् विवेककमयी दृष्टि भी सदा खुली ही रहनी चाहिये।

यह मन अज्ञानवश जगत् के सुखद पदार्थों में आसक्त हो रहा है, इसलिये विचार द्वारा दोषदर्शन करते हुए मन में विराग दृढ़ होगा और परम प्रेममय परमात्मा की महान् महिमा का मनन, चिन्तन करने से उन्हीं के ध्यान का अभ्यास दृढ़ होगा; क्योंकि मन से जिसका मनन, चिन्तन होता है उसी का ध्यान रहने लगता है। परिवर्तनशील पदार्थों के ध्यान में मन एकरस स्थिर नहीं रहता और जो सदा एकरस स्थिरतत्व है उसके ध्यान से मन भी स्थिर हो रहता है।

विराग, त्याग एवं ज्ञान और ध्यान की बातें सुनते या कहते रहने से किसी का वास्तविक लाभ नहीं होता। बुद्धिमान् पुरुष वही है जो अपने जीवन में इन बातों को चरितार्थ करे। वासनाओं, कामनाओं और इच्छाओं का घटाना बुद्धिमत्ता का आरम्भ है और संयम अभ्यास के द्वारा उन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेना बुद्धिमता की पराकाष्ठा है।

यदि कामनाओं, इच्छाओं की पूर्ति से किसी को परमशान्ति मिली होती, तो अधिक से अधिक वैभव-ऐश्वर्य के भोगों से ज्ञानीजन विरक्त क्यों होते ?यदि जगत् के सुहृद् सम्बन्धियों से सर्वभावेन दुःख की निवृति और परमानन्द की प्राप्ति हुई होती, तो बड़े-बड़े परिवारों से धिरे हुए विवेकीजन सर्वसंग का त्याग करके असंग अन्तरात्मा के संगी क्यों होते जगत् के सुखों को, सम्बन्धों को, जगत् के देहादिक पदार्थों को सूक्ष्मदर्शी पुरुषों ने मिथ्या जान कर क्षणाभंगुर देखकर ही इनका त्याग किया है और शाश्वत सत्य तत्व को प्राप्त

करके परमानन्दित हुए हैं।

बुद्धिमान् पुरुष को ही अपने जीवन के परम लक्ष्य का ज्ञान हो सकता है और वही उस लक्ष्य को प्राप्त करने का पूर्ण प्रयास कर पाता है। अपने अभिलषित तत्व की योगसाधना में अन्तःकरण के निर्मल हो जाने पर ही सफलता प्राप्त होती है। सबसे पहिले मन को स्थिर करना पड़ता है।

जिनके मन में सांसारिक सुख-भोगों के प्रति आकर्षण नहीं रहता वह व्यक्ति शीघ्रता से मन का निरोध कर लेते हैं। जिनके चरित्र शुद्ध हैं, जो अपने संकल्प में दृढ़ता से स्थिर रहते हैं वे भी मन को शीघ्रता से वश में कर लेते हैं। जिनके हृदय में प्रेम की प्रधानता है, जो अपने प्रेमपात्र के लिए अपने सुख-दुःख की किंचित् भी चिन्ता नहीं करते ऐसे निष्काम प्रेमी का भी मन अनायास स्ववश हो जाता है। प्रेमी सन्त का यह अनुभव भी हैः-

'मन पंछी तब लगि उड़े, विषय वासना माहि।
प्रेमी बाज की झपट में, जब लगि आयों नाहि'।।
'पहिले यह मन काग था, करता जीवनघात।
अब तो मन हंसा भया, मोती चुग-चुग खात'।।

रागी मन को विरागी बनाकर भगवान् में लगा देने के लिए भक्तियोग परमोत्कृष्ट उपाय है। वैसे तो सभी प्रकार की साधना का अभिप्राय वृत्तियों का निरोध करना ही है फिर भी भक्तियोग की साधना अन्य साधनों की अपेक्षा अति सुगम है।

विविध पदार्थों के संयोग से मनोवृत्तियों की वृद्धि होती है। संसार में अनेकों पदार्थ है और परिवर्तनशील हैं, इसलिए जो संसार के परिवर्तनशील पदार्थों को देखता है उसी का मन संसार के अनेकों पदार्थों में चंचल रहा करता है। ऐसे चंचल मन को रोकने के लिए यही सुन्दर उपाय है कि इसे एक सत् पदार्थ में लगाया जाय और वह एक पदार्थ- परम तत्व है जो संसार के अगणित पदार्थों का एकमात्र जीवनाधार है। वही सत्य, अपरिवर्तनशील, नित्य एकरस है। उसी एक सत्ता को भक्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अपने-अपने भाव एवं ज्ञान के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों और रूपों के द्वारा भजते हैं।

भक्तियोग की साधना यद्यपि सुगम है फिर भी पूर्ण समर्पण के द्वारा ही सफल होती है। कोई भी भक्त अपने उपास्यदेव के प्रति पूर्ण समर्पण तभी कर सकता है, जब अपने कहे जानेवाले धन-धान्यादि के अतिरिक्त देह, इन्द्रिय,

मन आदिक सभी पदार्थों पर अपना पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लें, क्योंकि जो अपने अधिकार में है वही किसी के अर्पण किया जाता है।

भक्तियोग की साधना में अपना सब कुछ भगवान का समझ कर और केवल भगवान् को अपना समझकर, भगवान् के ही ऊपर पूर्ण निर्भर रहकर, संसार के संयोग-वियोग, हानि-लाभ, अनुकूल-प्रतिकूल आदि द्वन्द्वों में समस्थित-शान्त होकर भगवदाज्ञानुसार कर्तव्यपालन पर ही ध्यान रखना होता है, इसी से मन स्वतः वश में हो जाता है। भक्त में भक्ति से मन स्ववश होता है और मन स्ववश होने पर ही भक्ति की साधना सफल होती है।

भक्त अपना सब कुछ भगवान् को देकर खाली होता है और खाली होकर ही भगवद्-प्रेम से अपने को ओतप्रोत पाता है। भक्त अपने लिए भगवान् के सिवा कुछ भी नहीं चाहता फिर भी भगवान् के लिये जो कुछ भी आवश्यक समझता है, उसी को स्वीकार करता है। भगवान् के लिए ही वह सब कुछ संग्रह कर सकता है, और भगवान् के लिए सब कुछ त्याग भी कर सकता है। भक्त का सीमित अहंभाव शरणागति की सरलता में सदा के लिये डूब जाता है। भक्त भगवान्मय होकर परम प्रेमामृत का आस्वादन लेता रहता है।

प्रायः ऐसे व्यक्ति भी अनेकों मिलते हैं जो अपने को भगवान् का भक्त कहते हुए अपनी अहंगत कामनाओं एवं प्रिय लगने वाली इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही भगवद् नाम का कीर्तन तथा मन्त्रजप या प्रार्थना अथवा मूर्तिपूजा आदि किया करते हैं। ऐसे लोगों के मन में शान्तिप्रद स्थिरता तो दूर रही एकाग्रता भी नहीं हो पाती, क्योंकि ऐसे व्यक्ति भगवान् के भक्त न होकर अपने अहंगत रुचिपूर्ति के भक्त होते हैं।

सन्त-सदगुरु के द्वारा भक्ति की साधना का मर्म विदित हो जाता है तभी यह साधना सुगम हो जाती है। कहा भी है:-

भगति तात अनुपम सुख मूला।
मिलाहिं जो सन्त होहिं अनुकूला।।

जब तक सन्त-सदगुरु के द्वारा भगवत्तत्व का ज्ञान न होगा, तब तक कोई भगवान् की उपासना कर ही कैसे सकता है अतः साधक को भगवद्स्वरुप तथा उनकी भक्ति का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

वह श्रद्धालु जिनकी श्रद्धा अडिग और सात्विक है, जो श्रद्धास्पद की हितकारी आज्ञाओं के पालन करने में सदा तत्पर हैं और अप्रमादीं हैं, ऐसे लोगों के लिए मन को वश में करना कहीं कठिन नहीं हैं। मन को वश में करने के अनेकों उपाय सन्तों, महापुरुषों ने खोज निकाले हैं परन्तु श्रद्धास्पद गुरुदेव के आज्ञानुगामी होकर रहना अन्य सभी उपायों की अपेक्षा एक निराला ही उपाय है जिससे कि और सभी उपाय भी सुगम हो जाते हैं।

सत्पुरुषों का आश्रय लेकर जो अपनी शक्ति तथा समय को निरर्थक न खोकर अल्पाहार, अल्पविहार, अल्पनिद्रा और परिमित भाषण का दृढ़ नियम रखते हैं ऐसे व्यक्ति सरलतया मन को वश में कर लेते हैं।

जो अपने शरीर को अभ्यास के योग्य हलका रखते हैं, जो योग-साधन के लिये अनुकूल स्थान में रहते हैं, जिनके भाव पवित्र हैं और शुद्ध तथा सूक्ष्म बुद्धिवाले विचारशील हैं, वह निर्भय होकर मन को वश में कर लेते हैं। जो साधक अन्तरात्मा की नीरवता में बैठना जान गये हैं उनका मन स्थिर, शान्त और स्ववश रहता है। प्राप्त, अप्राप्त सांसारिक पदार्थों को, लौकिक, पारलौकिक भोगों से उत्पन्न सुखों को तुच्छ एवं दुखद देखने से मन अवश्य स्ववश होता है।

मन की गति को, मति को देखते रहने से भी वह चंचल नहीं रहता। मन जहाँ-जहाँ जाय वहाँ-वहाँ से लौटाकर एक तत्व के मनन, चिन्तन, ध्यान में लगाये रहने से वह नितान्त वश में हो जाता है।

भावपूर्वक अर्थ-चिन्तन करते हुए निरन्तर जप का अभ्यास बढ़ जाने पर भी मन एकाग्र हो जाता है। विषय और व्यसन से विरक्त होने पर आत्मा, अनात्मा के विषय में निरन्तर विचार करते रहने से भी मन स्थिर हो जाता है। श्वास-प्रश्वास की गति पर सुरति स्थिर रखने से भी मन की चंचलता कुंण्ठित हो जाती है।

शरीरान्तर्गत नाभि, हृदय, भ्रूमध्य आदि किसी केन्द्र में अथवा मस्तक के ऊपर शून्य में सुरति योग द्वारा ध्यान स्थिर करने से मन स्ववश हो रहता है।

यदि किसी को सत्य असत्य का यथार्थ ज्ञान हो जाय और वह मानने तथा मनन करने का त्याग कर सके तो मन का संग ही छूट जाता है। यही सब मन के वश में रखने के अनुभूत उपाय हैं।

अपनी ही भूलों से मनुष्य दोषी और दुखी है

प्रायः मनुष्य अपनी अज्ञानजनित भूलों के परिणाम में अधिक से अधिक दुःख भोगते रहते हैं, परन्तु विचार न कर सकने के कारण अपनी भूलों का सुधार नहीं करते। कोई भी मनुष्य हो जब तक अविवेक के कारण होने वाली भूलों को अपनी ही दृष्टि से नहीं देख सकेंगे तब तक अपना समुचित सुधार नहीं कर सकते, और तब तक वह न तो दुःखों से ही बच सकतें हैं, न उन्हें परम शान्ति ही मिल सकती है।

कुछ ऐसे भी विचित्र हैं कि भूल के पथ-में चलते हुए स्वयं समय-समय पर दुःख-अशान्ति का अनुभव करते हुए दूसरों को भी उसी मार्ग में चलने का उपदेश देते रहते हैं और उसे सन्मार्ग बताते हैं। जहाँ अपनी अज्ञानावस्था में मौन रहकर ज्ञानी सत्-पुरुषों से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, वहाँ भूले हुए मानव अपने तुच्छ ज्ञान का गर्व लेकर बड़ी-बड़ी सिद्धान्त की बातें करते हैं। ईश्वर को, शान्ति को, भक्ति को, मुक्ति को, धर्म और सत्य को मान-मान करके दूसरों को भी उसी प्रकार मनवाते रहते हैं। ऐसे ही लोगों के लिए किसी एक सन्त ने कहा है-

'' बिन देखे वा देश की, बात कहै सो कूर।
आपहि खारी खात है बेचत फिरै कपूर।।''

वास्तव में जब तक ज्ञानी सन्तों की समीपता सुलभ नहीं होती तब तक अपनी मोहाकीर्ण बुद्धि से अपनी भूलों का यथोचित ज्ञान नहीं होता। सन्त-सद्गुरु ही जब जीव को लखाते हैं तभी वह देख पाता है कि समस्त दुःखों का कारण अपना दोष है और दोषों का कारण है अपनी ही भूल। इसी प्रकार समस्त भूलों का कारण है अज्ञान। अज्ञान के दूर होने पर भूलें न होंगी, तब दोष कैसे रहेगा?और जहाँ दोष न होगा वहाँ दुःख भी न होगा।

प्राणियों के सम्मुख अनेकों दुःख के अवसर आते हैं फिर भी वे दुःखों का कारण नहीं जान पाते और बार-बार दुःखों के पथ में भटकते रहते हैं। मनुष्य को अनेकों बार यह दुःखाघात विचार की दृष्टि द्वारा विराग का द्वार दिखाता है, परन्तु मोहवश विराग के द्वार पर पैर रखकर भी वह राग के ही स्थल पर लौट आता है और तब तक भटकता रहता है जब तक विरागी, त्यागी सन्त सत्पुरुषों का समागम सुलभ नहीं होता।

किसी-किसी को सौभाग्यवश सन्तों, ज्ञानी-सत्पुरुषों का समागम भी सुलभ हो जाता है लेकिन जहाँ अहम्मन्यता की स्वार्थन्ध आँखों में श्रद्धा की दृष्टि ही नहीं खुली है वहाँ सन्त महात्माओं का महत्व ही नहीं दिखाई देता ! कदाचित् किसी की श्रद्धा-दृष्टि भी खुली और उसमें सुसंस्कार के योग से विवक की विमल किरणें भी आलोकित हुई, लेकिन यहाँ भी दुर्भाग्य उदय हो जाता है कि वह प्रमादवश अपने अन्तजीवन में सत्-असत् का निरीक्षण नहीं कर पाता, और संसार के सुखों दुःखों में भूलता है।

बुद्धिमान् सज्जनो ! आज भी जीवन है, समय है, शक्ति है, सभी तरह के उचित साधन सुलभ हो सकते हैं। आप अपने समय का एवं शक्ति का सदुपयोग कीजिये, अपनी भूलों को जानिये और भूलों को जानने के लिये अपने मन को देखिये। आप इन प्रश्नों का उत्तर लीजिये कि अभी तक अपने भोगी मन की इच्छाओं के लिये कितना श्रम किया ?कितना समय दिया ?कितनी शक्ति का अपव्यय किया, और आत्मकल्याणार्थ, परमार्थ के लिये क्या किया ?यह भी विचारियें कि बुराइयाँ कितनी बनीं और भलाइयाँ कितनी हो सकीं ?समय-शक्ति का दुरुपयोग कितना किया और सदुपयोग कितना ?यह भी सोच देखिये कि आप मोही, लोभी, कामी और क्रोधी कहाँ तक बने और प्रेमी, उदार, त्यागी, क्षमावान् कहाँ तक हो पाये ?अपनी देह, इन्द्रिय, मन के विषयों का एवं संसार-प्रपंच का कितना सुमिरन, चिन्तन, ध्यान किया और परमात्मा का सुमिरन, चिन्तन, ध्यान कितना किया ?आप सीमित में कितने बँधें और असीम की ओर कितने अग्रसर हो सके?बन्धन कितने बनाये अथवा बन्धनों को कहाँ तक खोल सके?इत्यादि प्रश्नों को जब निष्पक्ष होकर हल करेंगे, तभी पता चलेगा कि आप कितना भूले हैं और कहाँ से ठीक चले है।

सद्विवेक बिना सभी भूलते हैं

बुद्धि में सद्विवेक न होने के कारण हर एक मनुष्य स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ इत्यादि किसी को भी सिद्ध करते हुए भूलते रहते हैं। पूजा, पाठ, जप, तपादि के अनुष्ठान एवं विविध यज्ञ-होमादि शुभ कर्म करते हुए कोई तो स्वर्गीय भोग-सुखों की कामना रखते हैं, कोई यहीं के धन, पुत्र-ऐश्वर्य, वैभव आदि को चाहते रहते हैं; और कोई इस रिश्वत के द्वारा अपने पापों से मुक्ति की आशा कर रहे हैं।

अनेकों साधक तीर्थों में जाते हुए और रहते हुए भूल रहे है; क्योंकि वे तीर्थों में जाकर साधु-महात्माओं का सत्समागम नहीं करते। तीर्थ का प्रधान उद्देश्य तो

यही है कि साधु-महात्माओं का सत्संग प्राप्त हो और उससे सत्कर्म, सद्धर्म एवं सन्मार्ग का ज्ञान होवे। सन्त शब्द-

जावे मथुरा द्वारिका, या जावे जगन्नाथ।
सत्संगति हरि भजन बिन, कछू न आवे हाथ।।
यः स्नातः शीतसितया साधुसंगति गंगया।
किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः।।

'जो सत्संगतिरुपी शीतल निर्मल गंगा में स्नान करता है उसको किसी तीर्थ, दान, तप और यज्ञ से क्या लेना है।'

अनेकों मनुष्य साधु-महात्माओं का दर्शन-सत्संग करते हुए भी भूल रहे हैं, क्योंकि उन्होंने इतने मात्र से ही सन्तोष मान लिया है। वे नहीं जानते कि अनेकों साधु-महात्माओं का समागम करते हुए एक सन्तरुप में सद्गुरुदेव की प्रतिष्ठा करके उन्ही की शरण में स्थिर हो जाना चाहिये और पूर्ण सत्य-तत्व का ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति लाभ कर लेना चाहिये।

बहुत से मनुष्य श्रद्धास्पद गुरुदेव की शरण में पहुँच कर भी तब तक भूल रहे हैं जब तक वे गुरुदेव के ज्ञानस्वरुप को न जान कर देह में ही गुरुभावना और गुरुतत्व में देहभावना बनाये रहते हैं। वे यह नहीं जानते कि गुरुदेव तो वस्तुतः नाम-रुपमय होते हुए भी नामरुपातीत सच्चिदानन्द-रुप हैं। वास्तव में सद्गुरुदेव के सच्चिदानन्दस्वरुप को जानने वाला सत् शिष्य ही उनका सच्चा उपासक हो सकता है, और ऐसे ही सद्शिष्य को मुक्तिप्रद सद्ज्ञान की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार के आस्तिक भी भूल रहे हैं जो अस्ति की कल्पना करते हुए अपने परमाराध्य प्रभु के सत्स्वरुप को न जानकर मंदिरों मे मूर्तियों को ही आराध्य प्रभु मानकर पूजते रहते हैं। मन्दिरों और मूर्तियों के सहारे सद्भावों को बढ़ाते हुए जिस अन्तर्निहित चिन्मात्र स्वरुप परमात्मा को जानना चाहिये, उसे न जानकर वे साधक को ही साध्य मानते रहते हैं, किन्तु परमाराध्य प्रभु का योगलाभ नहीं कर पाते। इस प्रकार के पुजारी भी भूल रहे हैं, जो पूज्यास्पद के सत्स्वरुप को न पाकर अपने भाव की ही पूजा करते रहते हैं। किसी-किसी में तो भाव भी नहीं होता, और वह मूर्तिपूजा की ओट लेकर अपने उदर की ही पूजा करते रहते हैं।

वह उपासक भी भूल रहे हैं जो उपास्यदेव से मिले बिना ही केवल

अपनी रुचि की उपासना करते हुए सन्तोष मानते हैं, क्योंकि अपने उपास्यदेव का सच्चा उपासक वही हो सकता है जो उनके निकटस्थ रहते हुए समयानुकूल होने वाली उनकी रुचि को जानता है, और तदनुसार ही जो उनकी सेवा करता है; यही उपासक की सच्ची उपासना है।

इस प्रकार के विश्वासमार्गी भी भूल रहे हैं जो अपने भगवान् का नाम जप करते हुए, या निश्चित संख्या में अपने धर्म-ग्रन्थ का पाठ करते हुए, अथवा किसी विशेष स्थान में, मन्दिर में, किसी विशेष मूर्ति में किसी तरह की सामग्री, या कुछ द्रव्य अर्पण करते हुए, अपनी सुखद कामनाओं की पूर्ति चाहते हैं, और इसी आशा में नित्य नियम बाँधकर अपने सुख की सिद्धि के लिये प्रार्थना करते है; तरह तरह के व्रत-अनुष्ठान करते हैं। इसी प्रकार के विश्वासी भक्तों के लिये किसी सन्त ने कहा है-

फल निमित्त हरि कू भजै, धन अरु पुत्र की आस।
इन भक्तन को जानिये, स्वारथ ही के दास।।

वास्तव में अविवेक दशा में आबद्ध ऐसे विश्वासी व्यक्ति भगवान् के भक्त न होकर अपने मन के, स्वार्थ-सुखसिद्धि के दास बने रहते हैं। ऐसे लोग अपनी मान्यता के अनुसार जो कुछ भी साधन करते हैं उसकी महिमा भी प्रायः गाते रहते है। जैसे कि अमुक मन्दिर में अमुक देव की पूजा करने से बड़ा लाभ हुआ। अमुक ग्रन्थ का पाठ करने से यह दुःख मिट गया, या अमुक मन्त्र जप करने से हमको पुत्ररत्न प्राप्त हुआ, या नौकरी लग गई, अथवा अमुक पूजा से रोग दूर हो गया इत्यादि; इन प्रमाणों से अपने को कृपापात्र सिद्ध करते हुए गर्वित होते हैं। तब ऐसे लोगों की बातें सुनकर यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जो व्यक्ति पूजा, पाठ, कीर्तन, जप और यज्ञादि साधन कुछ भी नहीं करते फिर भी उनको अधिक लाभ होता है, उनकी भी इच्छायें पूरी होती हैं, उनको भी सन्तान होती है, उनके, भी समयानुसार आने वाले बड़े-बड़े दुःख दूर हो जाते है; बल्कि किसी-किसी को तो ऐसी-ऐसी सफलता प्राप्त होती है, ऐसे-ऐसे ऐश्वर्य, वैभव के विशाल सुख-भोग सुलभ होते दीखते हैं कि वैसी सफलता, वैसी सुखभोग की बहुलता अनेकों पूजा, पाठ, जप और ध्यान करने वालों के जीवन में भी नहीं दिखाई देती। यह विश्वासमार्गी जिन बातों को लेकर भगवान् की कृपा प्रमाणित करते हैं, वे बातें इतनी तुच्छ ठहरती हैं कि जिनसे भगवान् की महत्ता सिद्ध होने से स्थान में दरिद्रता ही सिद्ध होती है; क्योंकि भगवान् उपने इन कीर्तन, पूजा, पाठ करने

वालों को जो कुछ देते हैं उनसे कितने गुना अधिक तो उन लोगों को सुख-समृद्धि की प्राप्ति होती है जो भगवान् का नाम तक लेना पसन्द नहीं करते। भक्त लोग जिन्हें नास्तिक कहते हैं उन्ही अभक्तों के सामने दरिद्र, दीन-दुखी और परतन्त्र दशा में जीवन व्यतीत करते हुए यह भक्त अपने भगवान की महती कृपा को जानने का प्रयत्न नही करते बल्कि मान करके मन मनाते रहते हैं। इस प्रकार के विश्वासमार्गी व्यक्तियों को सावधान होकर सन्तसद्गुरु के समीप अपनी बुद्धि से भली प्रकार विचारपूर्वक समझ लेना चाहिये कि पूजा, पाठ, जप, और प्रार्थना आदि शुभ कर्मों से परमात्मा के प्रति सद्भावों का विकास होता है। सद्भावों के दृढ़ होने पर अन्तःकरण पवित्र होता है, और तभी सद्ज्ञानरुपी प्रकाश उदय होता है; जिससे अज्ञान-अन्धकार का नाश हो जाता है। इसी सत्यज्ञान से जीव बन्धन-दुःखों से मुक्त होता है।

कीर्तन, जप, पूजा, पाठ से भगवान् के प्रसन्न होने की कल्पना करना और धन पुत्र, ऐश्वर्य, वैभव, भोगसुखों की प्राप्ति में भगवान् की कृपा समझना निरी भूल है; क्योंकि संसार में धन, पुत्र, वैभव भोग सुख तो पापियों को भी किसी कर्म के फल से प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार की इच्छापूर्ति प्रकृति की शक्तियों के द्वारा ही होती रहती है। सच्चे भक्तों की दृष्टि में तो सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति का कुछ महत्व ही नहीं है, सांसारिक ऐश्वर्यभोग की वस्तुएँ तो अभक्त, अविश्वासी लोग, प्रकृति की क्षुद्र शक्तियों से ही प्राप्त करते रहते हैं, और भगवान् के सच्चे भक्त इस प्रकार की वस्तुओं की ओर आँख भी नहीं उठाते। सच्चे भक्त विवेकी होते हैं, वे उस महान् की कृपा को कहीं माँगते नहीं, वरन् पग-पग पर महान् प्रभु की महती का अनुभव करते रहते हैं। वे जानते हैं कि प्रभु की दया-कृपा अनन्त है, उनका सब कुछ अनन्त है, परन्तु अज्ञानी जीव, अपनी सीमित दृष्टि से, सीमित शक्ति से और सीमित बुद्धि से उस अनन्त की अनन्तता को बहुत समय तक समझ नहीं जाता।

जो व्यक्ति किसी मन्दिर में प्रतिष्ठित भगवान् की मूर्ति के आगे तन, मन, धन समर्पण करते हुए घंटो पाठ, पूजा जपादि करते रहते हैं, वे इतने से ही सच्चे भक्त नहीं कहे जा सकते और न उनकी शरणगति ही पूर्ण होती है, जब तक कि पूर्ण रुप से वासनारहित, निष्काम होकर अपने आराध्य की ही इच्छा पर परम सन्तुष्ट न रहने लगें। प्रायः इस प्रकार के पूजा-पाठ करने वाले व्यक्ति लौकिक या पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लोभवश या अन्य किसी

महत्वाकांक्षा को लेकर, या किसी प्रकार के संकट निवारणार्थ ही समर्थ भगवान् की शरण लेते हैं। इसीलिये अपने स्वार्थ के भक्त होते हैं, भगवान् के नहीं। ऐसे भक्त जो कि मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर में होने वाली घंटा, शंख आदि का ध्वनि सुनकर तो दौड़ पड़ते हैं, लेकिन किसी रोते-बिलखते, आहें भरते हुए दीन-दुखी की करुण ध्वनि पर ध्यान नहीं देते; देखते-सुनते हुए भी जो कठोर हृदय होकर बैठे रहते हैं, इनसे वे दयालु हृदयवान् पुरुष भगवान् के कृपापात्र होने के लिये बहुत आगे बढ़े हुए हैं, जो मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर के संकेतों को सुनकर भले ही अनसुने से बैठे रहते हों अर्थात वहाँ न जाते हों, परन्तु किसी दीन-दुखी, असहाय की क्रन्दन-ध्वनि सुनकर उनकी ओर दौड़ जाते हैं और सहानुभूतिपूर्वक उनकी यथोचित सेवा-सहायता रुप पूजा के लिये तत्पर रहते हैं। वस्तुतः ऐसे लोग प्रकृतिमय परमात्मा की सचेतन मूर्ति के पक्के पुजारी हैं और यही वास्तविक कृपापात्र भी हैं।

मन्दिरों में जो मूर्ति के पुजारी हैं, उनमें से कोई-कोई तो अपने स्वार्थपूर्ण भावों एवं कर्मों द्वारा आस्तिकता का ही खण्डन करते हुए मिलते हैं; परन्तु दूसरे प्रकार के जो दीनों-दुखियों, असहायों के पुजारी हैं, वे किसी मानी हुई भगवान् की मूर्ति आदि के सामने प्रार्थना-पूजा न करते हुए भी प्राणी मात्र में ही परमात्मा की सत्ता को देखते हुए सच्ची आस्तिकता का परिचय देते है।

संसार की अनेकता से परे जो एकमात्र परमाधार सत्य है उससे अज्ञानवश विभक्त हुआ जीव तभी अपने को भक्त पाता है जब उसके अन्तःकरण में सद्ज्ञान-प्रकाश हो और विशुद्ध प्रेम का विकास हो।

भगवान् के सच्चे भक्त वही हैं जिनके प्रत्येक भाव तथा कर्म के द्वारा ईश्वरीय गुणों की झलक मिलती है; जो अपने आराध्य प्रभु की आदर्श प्रीति, नीति, रीति को अपने जीवन में चरितार्थ करते रहते हैं; जो दया, सहनशीलता, क्षमा, करुणा एवं प्रेम की प्रत्यक्ष मूर्ति होकर जनसमाज के सामने दैवी विभूति के उदाहरण बने रहते हैं।

भगवान् के सच्चे भक्त 'अपनी कही जाने वाली' सभी वस्तुएँ भगवान् की ही दी हुई समझते हैं और भगवान् को ही अपना सर्वस्व जानते हुए जीवन का कर्तव्य पूरा करते हैं। ऐसे भक्तों को जो कुछ भी मिलता है उसे प्रभु का दिया हुआ समझकर सम्हालते हैं और जो कुछ भी जाता है उसे प्रभु की ओर से लिया हुआ समझकर एकरस सन्तुष्ट रहतें हैं। सच्चे भक्त संसार के सुखद-संयोग, दुखद वियोग आदि द्वन्द्वों में अपने भगवान् का अटूट आश्रय

लेकर विचलित नहीं होते।

भगवत्‌तत्व परमोत्कृष्ट, महान्‌ से भी महान्‌, पावन से भी पावन हैं और उसका बोध केवल भक्त को ही होता है। यद्यपि वह साधारण योग्यता तथा ग्रहणशीलता के परे है, फिर भी परम प्रेम के द्वारा, शरणागति-भाव एवं पूर्ण समर्पण के द्वारा हर एक के लिये सुलभ हो जाता है। कोई कितना ही शक्तिहीन, दलित, दीन क्यों न हो, यहाँ तक कि एक बालक भी अपनी दीनता, सरलता एवं पूर्ण निर्भरता और प्रेम के द्वारा उस प्रेममय महान्‌ सत्य को प्राप्त कर सकता है। नीचातिनीच, दीनातिदीन भी उस सर्वमय परमात्मा को प्रेम, भक्ति के द्वारा प्राप्त करते आये हैं जो अनन्त नामरुपों का प्रकाशक है। मन्दिरों में भगवान्‌ की मूर्ति तक तो हर एक पहुँच भी नहीं सकते, परन्तु विराट्‌-विश्वमय प्रभु की सचेतन मानवी मूर्ति में तो सर्वत्र, सभी समय भगवान्‌ की आराधना की जा सकती है। अपनी सूक्ष्मदृष्टि से इसी रुप को देखते हुए एक महाकवि ने कहा है-

आत्महित से लोकहित भवहित तथा,
भूतहित का जो अधिक अनुरक्त हो।
मान भव को मूर्ति विभु की विभु सहित,
यदि मनुज भव भूतियों का भक्त हो।।
तो बनाकर जन्म अपना वह सफल,
कर सकेगा दिव्यतम आराधना।
है यही कृति सर्व सिद्धिप्रदायिनी,
है यही विधिबद्ध सच्ची साधना।।

इस प्रकार के एकान्तवासी, त्यागी भी भूल रहे हैं जो अपने वर्ण-व्यावसाय को छोड़कर जन-संसर्ग से दूर किसी निर्जन स्थान में शरीर से तो जा बैठें हैं, परन्तु उनके मन में सांसारिक भोगसुखों की वासनाओं, कामनाओं एवं इच्छाओं का द्वन्द्वात्मक कोलाहल पूर्ववत्‌ मचा हुआ है। देह से निर्जन, एकान्त होने पर भी मन से वे विषयप्रपंच के संगी बने हुए हैं। ऐसे व्यक्ति तो अभी रागी ही हैं, त्यागी नहीं। इस प्रकार के विरक्त ज्ञानी भी भूल रहे हैं जो संसार के सम्बन्ध-प्रपंच को दुःखमय तथा मिथ्या कहते हुए उन्हीं सांसारिक सम्बन्धियों के वियोग में दुःखाक्रान्त होते दीखते हैं। इसीसे सिद्ध हो जाता है कि जिसे ये मुहँ से दुःखमय और मिथ्या बताते हैं वही उनके हृदय के

लिये सुखमय है; तभी तो अपने सुखद पदार्थों के वियोग में उन्हें दुःखानुभव होता है। सच्चे ज्ञानी तो सांसारिक पदार्थों के सम्बन्ध को दुःखमय जानकर पूर्ण विरक्त हो जाते हैं। जो ज्ञानी पुरुषों को संसार की वस्तुओं की वियोग दुःख प्रतीत नहीं होता। सन्त शब्द-

दाया करैं धरम मन राखे, घर में रहे उदासी।
अपना सा दुख सबका जाने, ताहि मिलैं अविनाशी।।

ऐसे प्रेमी भी भूल रहे हैं जो अपने प्रेमास्पद प्रभु से किसी तरह के सांसारिक सुख-भोग के लिये धन, वैभव आदि अन्यान्य वस्तुओं को माँगते है; क्योंकि सच्चे प्रेमी तो अपने प्रेमास्पद के अतिरिक्त अपने लिये और कुछ भी नहीं चाहते। सच्चे प्रेमी तो प्रेमास्पद की प्रसन्नता के लिये ही समस्त कर्म करते हैं, लेकिन जो अपनी प्रसन्नता का पक्ष लेते है वे प्रेमी भूल रहें हैं; भूलने के कारण ही ऐसे प्रेमी अपने सर्वस्व को प्रेमास्पद के अर्पण नहीं कर पाते। प्रायः अपने तन, मन और धन को कथन मात्र के लिए प्रियतम प्रभु को देते हैं, परन्तु अपने को अलग रखने के कारण इन सबका उपयोग अपनी ही अर्थ-पूर्ति के लिये करते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने अंह को प्रिय लगने वाली वासनाओं, कामनाओं और इच्छाओं की पूर्ति के लिये ही ऐसी शक्ति चाहते हैं जो शक्तिमान्‌ प्रभु से मिल सकती है। इसीलिये शक्ति-प्राप्त्यर्थ शक्तिमान्‌ की शरण लेते हैं। तभी ऐसे लोगों में न तो सच्चा प्रेम हैं, न समर्पण ही है।

इस प्रकार के ध्यानी भी भूल रहे हैं जो परम प्रभु परमात्मा के स्वतः सत्स्वरुप को न जानकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार पसन्द आये हुए रुपों को ही परमात्मा का सत्य रुप मान लेते हैं, और भिन्न-भिन्न भावानुसार ध्यान करते हुए जब कभी भावयोग से स्वनिर्मित रुप के दर्शन होते हैं तो उसी को परमात्म तत्व का साक्षात्कार समझ लेते हैं। वे यह नहीं जानते कि ध्यानाम्यास से दर्शित होने वाला रुप तो ध्यानी के भाव का ही बना हुआ रुप है, लेकिन भावमय रुप के पीछे उस अज्ञान का चिन्मात्र स्वरुप तो विलक्षण ही है।

जो ध्यानी 'उस' एक अद्वैत परमाधार तत्व का अनुभव नहीं कर पाते, जो कि अनेकों भक्तों के भावानुसार अनेक रुपों में दर्शित होते हुए भी तत्वतः अरुप ही है वही अपने ध्येय के माने हुए रुपों में भूल रहें हैं।

सविवेको हि शास्त्रस्य ज्ञानस्य तपसः श्रु तेः।
भाजनं भूषणाकारों भास्करस्तेजसामिव।।

'जो मनुष्य विवेकी है उसी का आचार, पाण्डित्य, तत्वज्ञान, तपशोभता है; जैसे प्रकाश की किरणों से सूर्यमण्डल चमकता है।'

अज्ञानता में ही सभी प्रकार की भूलें होती हैं। जिनकी बुद्धि सूक्ष्म एवं यथार्थदर्शी नहीं है और फिर भी जो जानने का अभिमान रखते हैं, वही भूलते हैं। जो स्वच्छन्द होकर चलते हैं, हठाग्रही हैं, प्रमादी है; जो ज्ञानी सत्पुरुषों के अज्ञानवर्ती नहीं हैं उन्ही से भूलें होती रहती हैं। जिनका मन अत्यन्त चंचल है और बुद्धि अत्यन्त निर्बल है, वे भी भूलों की अधिकता से आबद्ध रहते हैं; क्योंकि जिस विवेक से भूलों का सुधार होता है वह सबल एवं शुद्ध बुद्धि से ही होता है अतः बुद्धि की निर्बलता भी भूलों का कारण है।

समस्त दुःख और दोषों का कारण अज्ञानजनित भूल ही है। भूलों को दूर करने के लिये भूलों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है और भूलों को समझने का सरल उपाय ज्ञानी की समीपता में ज्ञान-प्रकाश प्राप्त करके अपने सर्वस्व के सहित अपने आपको देखना है। परन्तु इस प्रकार देखने की योग्यता उसी में आती है जो अपने माने हुए भावों में आसक्त नही होता, अपने आप ही कल्याणकारी साधनों को जानने का अभिमान नहीं करता और जो किसी प्रकार की अभ्यस्त क्रिया-पद्धति का ही हठी एवं आग्रही नहीं होता। सद्गुरु के समीप जाकर उनके सत्प्रसंग में जिसे अपने अज्ञान का ज्ञान होता है उसी को यथार्थ सत्य ज्ञान होता है और तभी भूलें दिखाई देती हैं। सन्त-कथित वाक्यों अथवा सन्तरचित सद्ग्रंथों का वाणी से केवल पाठ करते हुए परम कल्याण नहीं हो सकता जैसा कि विश्वासमार्गी लोग बड़े-बड़े फलों के लोभवश किया करते हैं; बल्कि सद्ग्रंथों के अध्ययन से सत्कर्म, सद्धर्म एंव भक्ति, उपासना, भाव और प्रेम के विषय में यथोचित ज्ञान प्राप्त करके तदनुसार आचरण में अभ्यास सिद्ध कर लेने से, विशुद्ध जीवन प्राप्त होता है।

किसी ग्रन्थ को, किसी मूर्ति को या साधू-महात्माओं के शरीर को जल, अक्षत, फूल, माला आदि द्वारा पूजते रहने से भूल रहित परम शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती; बल्कि इन सबके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके उसी ज्ञान-प्रकाश में भूलों को देखते हुए भूलों का त्याग किया जाता है। ज्ञानी सत्पुरुष से ही भूल नहीं होती, इसीलिए ज्ञानी का जीवन दोष और दुःखरहित होता है।

अभ्यास से ही पूर्व अभ्यास का दमन होता है

मनुष्य जिस प्रकार के विचारों का, जिस तरह के भावों का अपनी

बुद्धि में अथवा मन में पूर्णातया स्थान देता है, तदनुसार ही जो कर्म करता रहता है, उसी प्रकार के विचारों, भावों और कर्मों का अभ्यास प्रकृतिबद्ध हो जाता है।

एक प्रकार के अभ्यास को मिटाने के लिये दूसरे प्रकार का अभ्यास करना पड़ता है। सद्ज्ञान एवं सद्भाव और सत्कर्म का अभ्यास दृढ़ होने के लिये संयम-नियम में सतत दृढ़ रहने की आवश्यकता है। दृढ़ता होती है शक्ति के द्वारा और शक्ति मिलती है योग-साधन के द्वारा। विविध विषय-प्रपंच में बिखरी हुई चित्त-वृत्तियों को अपने सत्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जिस प्रकार हम निरुद्ध कर सकते हैं वही शक्तिप्रद योग-साधन है।

नित्य के अभ्यास से निःसन्देह साधन के द्वारा साध्य की प्राप्ति होती है। सद्-विचारों के अभ्यास से दुर्विचार दूर हो जाते हैं, सद्भावों के अभ्यास से असद्भाव नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार शुभ कर्मों के अभ्यास से अशुभ कर्म मिट जाते हैं।

क्षमा का अभ्यास हो जाने से क्रोध की आदत मिट जाती हैं, सहनशीलता एवं सहानुभूति के अभ्यास से विरोध और घृणा के दुर्भाव स्थान नहीं पाते। दानशील वृत्ति एवं उदारता के अभ्यास से लोभ और कृपणता की प्रवृति नष्ट हो जाती है। सत्संगजनित विवेक का अभ्यास हो जाने पर मोहासक्ति नहीं रह जाती। निष्काम प्रेम की नीति-रीति अभ्यस्त होने पर काम की कुटेव सेवा सद्भाव में बदल जाती है। इसी प्रकार आत्मचिन्तन के अभ्यास से देहचिन्तन का अभ्यास मिट जाता है। परमात्मा के चिन्तना-भ्यास द्वारा जगत्-प्रपंच का चिन्तनाभ्यास मन्द हो जाता है। ज्ञान-दृष्टि की स्थिरता का अभ्यास होने पर लक्ष्य विस्मृति दोष नहीं रहता। शाखाध्ययन के अभ्यास से भ्रम-संशय-दोष की निवृत्ति हो जाती है।

विवेक-दृष्टि से विषयों में दोष-दर्शन के अभ्यास से विषयासक्ति निर्जीव हो जाती है। सांसारिक पदार्थों में अनित्यता के बोधाभ्यास से पदार्थानुरक्ति क्षीण हो जाती है।

एक तत्व के निश्चयाभ्यास से तर्क वितर्क का स्फुरण नहीं रह जाता । परार्थ और परमार्थ-प्रयत्न के अभ्यास से स्वार्थ-सिद्धि का स्वभाव नष्ट हो जाता है। प्रत्येक अभ्यासी को ध्यान रखना चाहिये कि किसी भी प्रकार का अभ्यास नित्य नियमबद्ध होना चाहिये; क्योंकि जो कोई अपने नवीन अभ्यास संस्कारों को और निरर्थक भ्रमण के स्वाभाव को ग्रहण करते हुए अपने

पूर्वपरिचित विचारों, भावों और क्रियाओं की सृष्टि में धूमने लगता है।

उत्तम साधनाभ्यासी

जिसकी सद्विवेक-दृष्टि खुली हुई है, जो अपने को देखता है तथा अपने सत्य लक्ष्य को देखता है एवं लक्ष्य-प्राप्ति के पथ को देखता है और पथ में साधक अथवा बाधक वस्तुओं को भी देखता है, वही उत्तम साधनाभ्यासी है। जो अपनी जीवन-यात्रा में प्रेम, तिरस्कार, निन्दा, स्तुति, संयोग, वियोग आदि द्वन्द्वों में सात्विक समता को नहीं भूलता बल्कि सब कुछ उचित समझकर जो गम्भीरता तथा धैर्य के साथ कर्तव्य-पथ में बढ़ता जाता है, वही उत्तम प्रकृति का साधक है।

जो साधक किसी हानि या दुःख-दण्ड से भयातुर होकर किसी देवता की पूजा-स्तुति करते हैं, वे अज्ञानी और निर्बल चित्तवाले हैं। जो साधक किसी प्रकार के सुख, ऐश्वर्य, वैभव एवं स्वर्ग-प्राप्ति के लिये ईश्वर की आराधना अथवा यज्ञ, दानपुण्य आदि शुभ कर्म करते हैं, वे स्वार्थी तथा लोभी हैं। ऐसे लोगों को नरक का भय और स्वर्ग का प्रलोभन ही सत्यानन्द-स्वरुप देव के सम्मुख नहीं होने देता। इसी प्रकार जो साधक विशेष प्रकार की सिद्धियों के लिये, विविध चमत्कारों की प्राप्ति के लिये साधना करते हैं वे भोगलोलुप मानव, मोह, मान, एवं माया के ही उपासक सिद्ध होते हैं; क्योंकि उनकी साधना का लक्ष्य सत्याधार की प्राप्ति न होकर भोगमय, संसार की प्राप्ति होती है।

जब तक साधक को यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब तक उसकी विविध साधना ही सत्य-साध्य के सम्मुख पर्दा बनती रहती है। इसीलिये जो सथार्थ विवेकी हैं वही उत्तम साधक हैं।

अविवेकी साधक अपने साध्य की प्राप्ति के लिये प्रायः सरल मार्ग जानने की अभिलाषा प्रकट किया करते हैं; उन्हे समझ लेना चाहिये कि वस्तुतः कोई भी योग-साधन न तो कठिन है, न सरल ही है। किसी भी विषय में जब तक क्रियात्मक अभ्यास नहीं होता तभी तक वह कठिन प्रतीत होता है, वही सरल दीखने लगता है।

किसी भी क्रिया का, एवं भाव का ज्ञानयुक्त अभ्यास हो जाना ही सरलता है। अभ्यास न होने तक ही साध्य-प्राप्ति का साधन कठिन प्रतीत होता है। कठिन को सरल बना देने वाले बदले अभ्यास की दृढ़ता के लिये

अटूट धैर्य के साथ सतत प्रयत्न की आवश्यकता है। सन्त शब्दः-

वह कौन सा उकदा है जो वो हो नहीं सकता।
हिम्मत करै इन्सान तो क्या हो नहीं सकता।।
कीड़ा जरा सा और वह पत्थर में घर करे।
इन्साँ वह क्या न जो दिले दिलवर में घर करे।।

साधक को अपने कर्तव्यकर्मो में कहीं भी आलस्य न करना चाहिये और हताश भी न होना चाहिये। साधक अपनी साधना का थोड़ा भी नियमबद्ध अभ्यास करता जाता तो कभी न कभी निश्चय ही पूर्ण सफलता प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता। नियमित अभ्यासी को अदृश्य शक्ति की समय-समय पर सहायता मिलती है। नियमित अभ्यास प्रकृतिबद्ध स्वभाव बन जाता है। स्वभाव की सीमा में आ जाने वाली बातें अनायास ही होती हैं, वहीं कठिनता की किंचित भी प्रतीत नहीं होती।

जिसको जिसका अभ्यास है उसके लिये वही सरल है लेकिन जिसको जिस विषय का अभ्यास नहीं है वही उसके लिये कठिन है। भाषा, भूषा, भीरुता, भव्यता, क्रिया, कला-कुशलता, विद्या, वादिता, शूरता, शालीनता आदि जो कुछ भी मानव-प्रकृति में स्वभावबद्ध बातें दीखती हैं सब अभ्यास के ही द्वारा पुष्ट होती है।

जो पुरुषार्थी दृढ़ संकल्पवाला, संयमी, बुद्धिमान् सन्त-सेवी है; वही उत्तम साधना का अभ्यासी है। जो उत्तम संकल्प के द्वारा ही संकल्पों को दूर करता है, जो अपने मन की पवित्र इच्छा के बल से मानसिक विकारों को जीत लेता है, जो अपने अभीष्ट पुरुषार्थ के सिद्ध होने में कहीं भी कठिनाई नहीं रहने देता, वही उत्तम साध्नाभ्यासी है।

सन्त-संग बिना सत्साधन का ज्ञान नहीं होता

मनुष्य के जीवन में बाल्यावस्था का समय तो मूढ़तावश खेल-कूद में ही व्यर्थ जाता है। इसके आगे युवावस्था का आरम्भ होते ही विविध विषय-वासनाओं के वेगों से विवश होकर वह स्त्री आदि के साथ सुख-भोगों की भूख मिटाने में अधिक से अधिक शक्ति समय खो देता है। इसके साथ ही साथ अपनी देह की चिन्ता, कुटुम्बियों के पालन की चिन्ता और इन सबके रक्षणार्थ धनोपर्जन की चिन्ता मिटाने के लिये उसे बहुत श्रम करना पड़ता है।

आयु का बहुत बड़ भाग श्रम-निवृति और शक्ति-प्राप्ति के लिये निद्रा में निकल जाता है। ऐसी परिस्थिति में कोई विरले सुसंस्कारी बुद्धिमानू मानव निकलते हैं, जो अन्यान्य चिन्ताओं के साथ आत्म-कल्याण की चिन्ता से चिन्तित होकर तदनुसारकल्याण-साधन की खोज करते हैं और सद्धर्भ, सत्कर्म एवं सद्भावपूर्वक अपना जीवन सन्मार्ग में लगाना चाहते हैं। परन्तु यहाँ पर भी एक कठिनाई यह होती है कि समुचित सन्त-सद्गुरु का सुसंग न प्राप्त हो सका तो ऐसे व्यक्ति कठिनता से निकाले हुए समय को मनमाने साधन-पथ में भटकते हुए खोते रहते हैं, किन्तु सच्चे पथ-प्रदर्शक से मिले बिना परम शान्ति नहीं पाते।

लाखों मनुष्य ऐसे हैं जो सन्त-सद्गुरु की आवश्यकता ही नहीं समझते और अविचारपूर्वक कहीं भयग्रस्त होकर, कहीं सुखैश्वर्य लोभवश माने हुए स्थानों में शीघ्र वरदाता देवताओं की कल्पना करके कोई नित्य एक लोटा जल चढ़ाकर, कोई घृत, गुड़ आदि खाद्य पदार्थों को दिखाकर एवं कोई कुछ द्रव्य का प्रलोभन देकर और कोई किसी तीर्थ में गोता लगा-लगाकर स्नान करते हुए अभिलषित वरदान पाने की आशा से अपनी मन-भाई पद्धति के कट्टर पक्षपाती बने रहते हैं। अज्ञानवश ऐसे व्यक्ति उन सस्ते देवताओं को खोज-खोजकर पूजते, मानते रहते हैं, जो नकद न माँग कर उधार में ही कार्य सिद्ध कर देने के लिये विख्यात हैं। बालकों की सी बुद्धिवाले मनुष्यों के लिये उपर्युक्त क्रियायें भी भाव-विकास में किसी सीमा तक भले ही सहायक होती रहें, जैसे कि स्थूल बुद्धि वाले मनुष्यों को मन्दिर, मूर्ति आदि संकेतों के द्वारा ही सत्कर्म एवं सद्भाव में प्रवृत्त होने के लिये प्रेरणा की जाती है; लकिन आगे चलकर यदि ऐसे लोगों को समुचित सन्त-संग सुलभ हुआ तो साधन का ज्ञान न होने के कारण सन्मार्ग नहीं मिलता। इसी कारण सत्संगविहीन मनुष्य कठिन परिश्रम करतें हुए भी परमशान्ति नहीं प्राप्त कर पाते।

सत्संग के द्वारा जिनकी विवेक-दृष्टि नहीं खुली है, ऐसे मनुष्य अज्ञान-अन्धकार में भटकते हुए अपने आपको भूलकर लक्ष्य की खोज करते फिरते हैं। जिससे नित्य मिले हुए हैं उसी को दूर मान रहे हैं और जिससे सर्वथा भिन्न है उसी से अपने को अभिन्न मान बैठे है; जिससे सब कुछ पाते हैं उसे देखते नहीं और जिसको सदा देते है उसी के आगे भिखारी बन रहे हैं। अपने सत्यस्वरुप को पहिचानते नहीं और पराये रुप पर मुग्ध होकर अपना तन-मन न्योछावर करते है। जो अपना परम कर्तव्य है उनके लिये वे कहते है

कि हम उसे कर ही नही सकते और जो निरर्थक है उसके लिये कठिन परिश्रम करते हुए समय-शक्ति खोते रहते है। जो अपने एकमात्र परमाधार हैं उन्हें जानते नहीं, और जो अपने होकर रह नहीं सकते उन्हीं को अपना परमाधार मानते है।

जो परम प्रभु समदर्शी, असंग, परम प्रेममय एवं पूर्ण है, उसी को ये लोग विविध प्रकार की पूजा, भेंट, प्रार्थना आदि से सन्तुष्ट होने की कल्पना करते हैं। जिसे स्वयं भावावेश में आस्तिकता के पक्ष से अन्तर्यामी सर्वज्ञ कहते हैं उसी को किसी विशेष स्थान एवं नाम-रुप में सीमित मानकर आतुरता, अधीरतापूर्वक अपनी इच्छाओं कामनाओं की पूर्ति के लिये नित्य याचना करते हैं। कुछ आगे बढ़ कर जो साधक अपने आराध्य प्रभु को सर्वव्यापक कहते हुए अपना जीवनाधार समझते हैं वही, उस व्यापक प्रभु की व्यापकता का अनुभव सबसे निकट अपने आपमें न करके दिग-दिगन्त में खोजते फिरते हैं।

इसी प्रकार के अविवेकी साधकों की दशादेखकर सन्तों ने कहा है-

'है नियरे दीखे नहीं, धिक धिक ऐसी जिन्द।
तुलसी या संसार को हुआ मोतियांबिन्द।।'
'प्रकट कहौं तो मारिया, परदहि लखे न कोय।
सहना छिपा पुवार तर, को कहि बैरी होय।।'

जो मनुष्य अपनी क्षुद्र बुद्धि के अभिमानवश सन्तों की निष्पक्ष वाणी का अनादर करते रहते हैं वे सन्त-संग के बिना सद्शास्त्रों का भी मर्म नहीं समझ पाते। इतने पर भी सन्तजन अपनी अहेतु की कृपा से मार्मिक शब्दों में चेतावनी देते ही रहते हैं। सन्त-शब्द-

'सब घट सांई रमि रहा, बिरला बूझे कोय।
सोई बूझे राम को, 'जो; राम सनेही होय।।'
'वस्तु अनत खोजत अनत, कैसे आवैं हाथ।
ज्ञानी सोइ सराहिए, पारख राखे साथ।।'

मुख्य साधन

किसी भी वस्तु का जिसके द्वारा ग्रहण होता है वही उस वस्तु की प्राप्ति का साधन है; अर्थात् जिसके द्वारा साध्य प्राप्त किया जा सकता है उसी को साधन कहते हैं। किसी स्थूल वस्तु को ग्रहण करने का साधन स्थूल हाथ

है; इसी प्रकार किसी वस्तु के स्थूल रुप को देखने का साधन नेत्र हैं, किसी का नाम लेकर उसे पुकारने का साधन वाणी है, किसी का स्मरण या मनन करने का साधन मन है, चिन्तन करने का साधन चित्त है एवं उसके तत्तवतः स्वरुप को जानने का साधन बुद्धि और मिलने-तद्रूप होने का साधन अहं है।

किसी भी वस्तु के रुप को, ज्ञान को अपने अन्तःकरणरूपी साधन के द्वारा ही मनुष्य ग्रहण करता है। तात्पर्य यह है कि जिस अन्तःकरण के द्वारा जगत् के नाम, रुप, गुण, स्वाभाव का ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसी अन्तःकरणरुपी साधन से जगदाधर प्रभु के नाम, रुप, गुण एंव दिव्य ज्ञान का ग्रहण होता है।

परमात्मा का स्वरुप क्या है ?कहाँ रहता है ?क्या करता है ?इत्यादि, परमात्मा-विषयक ज्ञान प्राप्त करने का साधन बुद्धि है। उसे अपना मानने और मनन करने का साधन मन है। उसके रुप, गुण, स्वाभाव, सौन्दर्य के चिन्तन करने का साधन चित्त है और उससे मिलने का साधन अंह है।

जिस प्रकार मन, चित्त, बुद्धि और अहं (अन्तःकरण) के द्वारा सांसारिक पदार्थो को अपना मानकर उनका मनन चिन्तन और ज्ञान प्राप्त करते हुए, उनसे मनुष्य मिल जाता है, उसी प्रकार अपने इसी अन्तःकरणरुपी साधन के द्वारा परमात्मा को भी साधक को यह देखना चाहिये कि साध्य की प्राप्ति के लिये जो साधन है वह कहाँ तक अनुकूल है और कितना प्रतिकूल है।

साध्य को प्राप्त करनेवाले प्रेमी का प्रथम कर्तव्य यह होता है कि वह अपने अन्तःकरणरुपी साधन को स्ववश कर ले और शुद्ध बना लेवे, तभी साध्य की प्राप्ति सुलभ हो सकती है।

जिसका अन्तःकरणरुपी साधन स्ववश और निर्दोष नहीं होता अर्थात् जिसको मन सांसारिक पदार्थों मे आसक्त है, या विविध विषय-भोगजनित सुखाों के लिये चंचल है इसी प्रकार जिसका चित्त ऐहिक पदार्थो या विषय-सुखों के चिन्तन में तल्लीन है, साथ ही बुद्धि भी इसी तरह के विचारों से धिरी हुई है और अंह भी इन्हीं असत् पदार्थों के प्रति अपनत्व रखते हुए तद्रूप हो रहा है, ऐसे अन्तःकरण वाले पुरुष को उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्त्व का नित्य योग सुलभ नहीं होता। अतः साध्य की प्रांप्ति के लिये साधन स्ववश और दोषरहित होना चाहिये। सन्त शब्दः-

आपा मेटे हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निरबैरी सब जीव सों, दादूयह मत सार।।

अन्तःकरणरुपी साधन की शुद्धि

अनेकों मनुष्य उत्तम कहे जाने वाले यज्ञ, दान, पूजा, पाठ, जप, तपादि शुभ कर्म करते रहते हैं; श्रुति, स्मृति, धर्म-शास्त्रों का अध्ययन करते रहते हैं और सन्तो, महान् पुरुषों के समागम में भी पहुँचते रहते है; लेकिन जब तक अन्तःकरण शुद्ध न हो तब तक शुभ एवं पुण्यप्रद कहलाने वाले कर्मो का फल (ज्ञान और भाव पवित्र न होन के कारण) प्रायः उल्टा ही होता है। अन्तःकरण की शुद्धि चाहने वाले व्यक्तियों को प्रथम यह जानना अत्यावश्यक है कि वह अशुद्ध कैसे हुआ ?यह जानने पर ही उसकी शुद्धि का उपाय सुगमता से समझ में आ जायेगा।

विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अपवित्र संग होने के कारण अहं अशुद्ध होता है, असत् विषय-प्रपंच के ज्ञान से बुद्धि अशुद्ध होती है, अशुद्ध पदार्थो के चिन्तन करते रहने से चित्त मलिन होता है और विनाशी अस्थिर पदार्थो को अपना मानने तथा उन्हीं का निरन्तर मनन करते रहने से मन चंचल, अपवित्र होता है, यही है अन्तःकरण की अशुद्धि । अब इसके विरूद्ध अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अपवित्र देहादि पदार्थो का संगाभिमान त्याग कर असंग अन्तरात्मा का संगाभिमान करने से अहं शुद्ध होगा, इसी प्रकार सत्य तत्व परमात्मा के ज्ञान से बुद्धि पवित्र होगी,

इसी परम पवित्र परमात्मतत्व के चिन्तन से चित्त निर्दोष हो जायेगा और परमात्मा को ही अपना मानते तथा मनन करते हुए यह मन निर्मल हो जायेगा। 'यही है अन्तःकरण की शुद्धि का सर्वोत्तम उपाय' जिसे बुद्धिमान मनुष्य समझते है।

मनुष्य का अन्तःकरण अशुभ कर्मों तथा अपवित्र भावों एवं अशुद्ध ज्ञान और दूषित संग के ही कारण मलिन होता है और इसके विरुद्ध शुभ कर्मों तथा पवित्र भावों एवं शुद्ध ज्ञान और निर्दोष सगं से ही वह निर्मल हो जाता है।

साधन शुद्धि का परम फल

अन्तःकरणरुपी साधन के शुद्ध होने पर अधिकाधिक सद्भावों, सद्गुणों का विकास होता हैं, सद्ज्ञान का प्रकाश होता है, बन्धन-दुः,खों का नाश होता है और नित्यानन्द में जीवात्मा का निवास होता है। साधन के द्वारा ही मनुष्य के सदुपयोग से मनुष्य का अभ्युत्थान होता है और दुरुपयोग से

पतन होता है।

सन्त तुलसीदास के शब्दों में ''साधन सिद्धि राम पद नेहू।।''

अपने परम प्रेमास्पद के प्रति पूर्णानुराग होना ही साधन की सिद्धि है। साध्य की प्राप्ति के लिये ही साधन हैं। साधन के स्ववश और निर्मल होने पर साध्य-वस्तु की प्राप्ति निस्संदेह होती है।

साधन के द्वारा सिद्धि प्राप्त होने पर साधक अपने परमाराध्य प्रभु के दिव्य ज्ञान एवं दिव्य प्रेम और उनकी दिव्य शक्ति से सम्पन्न होता है। इसी दशा में साधक का मन स्थिर हो जाता है, चित्त में स्थायी शान्ति भर जाती है, बुद्धि समत्वयोग से स्थिर हो रहती है और सीमित, क्षुद्र, अहं भी परमाधार के समर्पित होकर अपनी क्षुद्रता और सीमित भावों की उपाधियों से परे मुक्त स्वरुप हो जाता है। ऐसे साधक को कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग अथवा प्रेमयोग सिद्ध हो जाते हैं। योगसिद्धि के प्रभाव से यह

मानव-जीवन ऐसा सुपात्र बन जाता है कि सांसारिक प्रपञ्चमय विकारों का मल इस पर ठहर ही नही पाता।

कुछ ऐसी धातुयें हैं, जिनके बने हुए पात्र शीघ्र मलिन होते हैं और उन्हें नित्य शुद्ध करना पड़ता है, लेकिन स्वर्ण आदि कुछ ऐसी धातुयें हैं, जिनके पात्रों में मल नहीं जमता और उन्हें नित्य स्वच्छ भी नहीं करना पड़ता। उसी प्रकार साधन के शुद्ध हो जाने पर योगाग्नि से तपे हुए दिव्य जीवन में सूक्ष्म और कारण-रुपी पात्र ऐसे विशुद्ध द्रव्यों से सुगठित होते हैं कि उनमें संसारप्रपंच का मल साधारणतया लगता ही नही। इसीलिये योगी पुरुष संसार कें रहते हुए, त्रिगुणात्मक प्रकृति के बीच में चलते हुए अनेकों स्वार्थियों, प्रपंचियों के साथ समयानुसार व्यवहार करते हुए भी सभी से असंग रहता है।

योग-पथ में सहायक

परमान्दस्वरुप परमात्मा के योग-पथ में आने वाली किसी भी कठिनाई पर विजयी होने के लिये सबसे पहले उत्साह साथ देता है। लेकिन कुछ आगे बढ़ने पर उत्साह में थकावट आने लगती है, वहीं पर साहस की सहायता से मन्द उत्साही व्यक्ति में नवस्फूर्ति आ जाती है। किन्तु कहीं-कहीं ऐसे भी स्थल आते हैं कि जहाँ पर यात्री का साहस भी शिथिल होने लगता है तब वहाँ धैर्य अपनी प्रबल शक्ति से साधक को सँभाल लेता है, और यदि इसका तिरस्कार न किया जाय तो यह धैर्य साधक को उसके गन्तव्य स्थल तक कभी न कभी

पहुँचा ही देता है। इस प्रकार सामयिक सुविधाओं के होते हुए साधक को ध्यान रखना चाहिये कि योग के पथ में निरन्तर प्रयत्न कहीं मन्द न हो जाय और इस सावधानी के लिये सन्त-सद्गुरु का अटूट सम्बन्ध बना रहना परमावश्यक है।

उत्साह से यात्री गतिशील होता है; साहस से गति में स्फूर्ति मिलती है; धैर्य से किसी प्रकार के आकस्मिक आघातों-प्रत्याघातों के सहने की दृढ़ता आती है; इसी प्रकार सतत प्रयत्न से विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त होती है और सन्त-सद्गुरुदेव के सुसंग से प्राप्त हुए ज्ञान के द्वारा सत्य के लक्ष्य में अविचल दृष्टि रहती है; तभी साधक अपने परम लक्ष्य तक पहुँच पाता है।

विशेको निर्ममः शान्तः प्रसन्नात्मा विमत्सरः।
सुसन्तुष्ट यो ज्ञानात् समग्रः पुनरेभ्यति।।

'सन्तोषी, ममतारहित, शान्त, प्रसन्न मनवाला और शोक तथा मत्सररहित, इन छै लक्षणों वाला पुरुष ज्ञान से तृप्त होकर मुक्ति को पाता है।'

जो मन को जीत ले वही योगी है

कोई मनुष्य राजा-महाराजा अथवा सम्राट-पद को प्राप्त करके लाखों-करोड़ों मनुष्यों पर शासनाधिकरी होकर रहे लेकिन जब तक इन्द्रियों समेत मन को अपने वश में नहीं कर लेता तब तक जननाथ कहलाते हुए भी वह मन की दासता में नाचते हुए अनाथ ही रहता है। वास्तव में जो कोई अपने मन का स्वामी है वही सर्वसाधारणजनों का स्वामी हो सकता है और जब कोई संत-सद्गुरु का अनुगामी होता है तभी वह अपने मन का स्वामी होता है। जो अपने मन का स्वामी है वही यथार्थ में शक्तिमान् हैं। किसी भी प्रकार से मन की वृत्तियों का निरोध करने से शक्ति संचित होती है और उसी शक्ति के द्वारा मन पर स्वामित्व प्राप्त होता है। मन पर स्वामित्व प्राप्त करके ही कोई उस मन को अपने आराध्य प्रियतम को अर्पण कर सकता है।

ऐसे तो बहुत से लोग सरलतापूर्वक तन, मन, धन को अपने आराध्य को अर्पण करते रहतें हैं परन्तु जिस वस्तु पर अपना अधिकार ही न हो तो वह वस्तु किसी को कैसे दी जा सकती है ?अतः मन पर स्वाधिकार प्राप्त करने पर ही उसे अपने इष्टदेव को दें सकते हैं और मन को देकर ही उनके योगी हो सकते हैं। जब तक मन संसार को देखता है तब तक वह संसार का संयोगी

और वियोगी है और जब सत्याधार को देखता है तब वह सत्य का योगी है। मन के द्वारा जगत् का माना हुआ सुख-दुःख है, और माना हुआ सम्बन्ध है। मन के द्वारा सब बन्धन हैं और मन के द्वारा ही बन्धनों से छुटकारा मिलता है। मन द्वारा पाप और कभी पुण्य में प्रवृति होती है। मन के सावधान होने पर मनुष्य साधु होता है और असावधान रहने पर असाधु रहता है मन के वश में होकर रहना परतन्त्र रहना है और मन को वश में कर लेना ही स्वतन्त्र हो जाना है।

तस्य चंचलता यैषा त्वविद्या राम सोच्यते।
वासनापदनाम्नी तां विचारेण विनाशय।।

मन की जो स्वाभाविक चपलता है वही अविद्या कहलाती है, उसी का रुप वासना है और विचार के द्वारा यह वश में हो सकती है।

योगाभ्यास का लक्ष्य

किसी साधक का योग-साधन शक्ति प्राप्ति के लिए होता है, किसी का योग-साधन शक्तिमान् की प्राप्ति के लिये होता है और कोई योग-साधन केवल शान्ति प्राप्ति के लिये करता है।

जिन योगाभ्यासियों के मन में किसी प्रकार के सांसारिक ऐश्वर्य सुखभोगों की कामना होती है, उनका योगाभ्यास शक्ति प्राप्ति के लिये होता है; लेकिन जिन लोगों में सांसारिक सुखभोगों की कामना नही रहती, जो तृप्त एवं विरक्त रहते हैं, उनका योगाभ्यास शक्तिमान् की प्राप्ति के लिये होता है। इसके अतिरिक्त जो साधक विरक्त होने के साथ सूक्ष्म बुद्धिवाले, तत्वान्वेषक हैं, उनका योग शान्ति प्राप्त के लिये होता है।

जो साधक सांसारिक सुखों के कामी हैं वे योगाभ्यास से शक्ति प्राप्त होने पर भोगी बनते है। ऐसे व्यक्ति में योगाभ्यास से जो कुछ शक्ति का विकास होता है, भोगाभ्यास से उतना ही शक्ति का ह्रास होता है और तभी विविध प्रकार की आपदाओं का त्रास होता है।

जो साधक सांसारिक सुख-भोगों से विरक्त हैं और परमाधार प्रभु के अनुरक्त हैं वे योगाभ्यास से प्राप्त शक्ति के भोगी न बन कर, शक्ति से असहायों की सेवा करते हुए शक्तिमान् के तत्वतः स्वरुप को जान लेते हैं, वह अपने योगाभ्यास के द्वारा अपने आप में ही परमाधार सत्ता का नित्य

अभेदानुभव करते हुए परम शान्ति को प्राप्त होते हैं।

भोगी और योगी का जीवन

भोगी देहाभिमानी होता है, योगी चिन्मात्रस्वरुप आत्माभिमानी होता है। भोगी कामी होने के कारण असत संसार-प्रपंच का उपासक होता है और योगी त्यागी होने के कारण सत्स्वरुप परमात्मा का उपासक होता है। इसीलिये भोगी पर जगत-प्रपंच का प्रभाव पड़ता है। भोगी जगत्-प्रपंच में बधँकर सुख के पीछे दुःख एवं अशान्ति से घिरा रहता है और योगी सत्याधार का आश्रय लेकर शाश्वत शान्ति तथा शक्ति प्राप्त करता है। भोगी स्वार्थी होता है, और योगी परमार्थी होता है। भोगी अतृप्त और निर्बल होता है, योगी तृप्त और सबल होता है। इसीलिये भोगी संसार के पथ में सदा नीचे देखते हुए पतित होता है और योगी परमार्थ के पथ में सदा ऊपर देखते हुए उत्थान को प्राप्त होता है।

भोगी की विषयसुखानुभूति अपने से बाहर पर-पदार्थों के संयोग पर निर्भर है और योगी का आनन्दानुभव अपने आपमें ही सत्यात्मा के योग पर निर्भर है। भोगी विषय-सुखों के भोग के लिये परतन्त्र है और योगी योगानन्द के लिये सदा स्वतन्त्र है। भोगी में भोग के द्वारा शक्ति का अपव्यय होता है और योगी में योग के द्वारा शक्ति का संचय होता है। भोगी के समस्त साधन, संयम, तप आदि सीमित अहं के लिये होते हैं और योगी के समस्त साधन, संयम, तप आदि अपने परमप्रेमास्पद परमात्मा के लिये होते हैं। भोगी संसार का संयोगी होता है, लकिन योगी संसार का वियोगी होता है। संसार के संयोग से भोगों की सिद्धि होती है, संसार के वियोग से योग की सिद्धि होती है। जो अज्ञानी, अविवेकी है वही भोगी होता है और जो ज्ञानी, विवेकी है वही योगी होता है।

भोग का पथ राग है जो अन्धकार में होकर जाता है और संसार की अतुल गहराई में उतार देता है, योग का पथ त्याग है जो प्रकाश में होकर जाता है और परमोत्कृष्ट सत्य की असीम महत्ता में पहुँचा देता है। मनुष्य का जितना ही अधिक जीवन सांसारिक सुखों को भोगते हुए व्यतीत होता है उतना ही उसमें विषय-सुखों की वासना प्रबल होती है और आगे चलकर उन वासनाओं से मुक्त होने में उतनी ही कठिनता उस भोगी मनुष्य को होती है, क्योंकि विविध भोग-सुखों के त्याग करने पर भी उनके संस्कारों की गन्ध उसी प्रकार

आया करती है, जिस प्रकार तेल के पात्र से तेल निकाल देने पर भी तेल की गन्ध आती रहती है। भोगी बन्धन में रहता है, योगी मुक्त होता है।

जगद्गुरु भगवान् कृष्ण के मत से योगी का जीवन

जो (सबके) एकत्वभाव में अच्छी तरह स्थित होकर सब भूतों में रहने वाले मुझको भजता है, अर्थात सब भूत प्राणियों को अपने और सबके आत्मा-परमात्मास्वरुप मेरे अनेक रुप समझकर सबके साथ एकता का प्रेम रखता है, वह समत्व योगी सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझ (सबके आत्मा-परमात्मा) में ही बर्तता है, अर्थात् सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी वा परमात्मा स्वरुप मुझमें ही स्थिर रहता है (गी० अ० ६ श्लो० ३१)। हे अर्जुन ! जो आत्मौपम्य बुद्धि से, यानी सबको अपना आत्मा समझकर सबके सुख अथवा दुःख को समान भाव से देखता है, अर्थात् दूसरों के सुख-दुःख को अपने समान ही अनुभव करता है, वह परम योगी माना गया है। (गी० अ० ६ श्लो०३२) तपस्वियों से (समत्वयोग का अभ्यास करने वाला) योगी श्रेष्ठ है; ज्ञानियों से भी वह श्रेष्ठ माना गया है, और कर्मियों से भी योगी श्रेष्ठ है। इसलिये अर्जुन तू योगी हो (गी० अ० ६ श्लो० ४६)। सारे योगियों में जो अपने अन्तःकरण को मुझ (सबके आत्मा-परमात्मा) में लगाकर श्रद्धासहित मुझको भजता है, वह मेरे मत में सर्वश्रेष्ठ योगी है। तात्पर्य यह कि साधक सबके आत्मा-परमात्मा के एकत्वभाव में मन लगाकर एक परमात्ता के व्यापक होने के निश्चय से सबके साथ प्रेम करने रुपी ईश्वर-भक्ति करता है, वह सब अभ्यास करने वालों में श्रेष्ठ है (गी० अ० ६ श्लो० ४७)।

परम तत्व

जो विश्व का आधार परम तत्व है, उसका पूर्ण ज्ञान मानवबुद्धि द्वारा हो ही नहीं सकता। वह ऐसा विलक्षएा है कि स्वंय तो दिखाई नहीं देता, किन्तु उसी के द्वारा सब कुछ देखा जाता है। वह स्वंय तो सुनाई नहीं देता, परन्तु उसी के द्वारा सब कुछ सुना जाता है। वह स्वंय तो मनन, चिन्तन में आता नहीं है, लेकिन उसी के द्वारा सब कुछ मनन, चिन्तन किया जाता है। वह स्वंय पहिचानने में आता नहीं है प्रत्युत् उसी के द्वारा सब कुछ पहिचाना जाता है।

बिना उनके न कोई देखने वाला है, न कोई सुनने वाला है, न कोई सोचने वाला है, न जानने वाला है। वही सबका अन्तर्यामी परमात्मा है। उसके

बिना सब मिथ्या है। वही सूत्रात्मा होकर सबको बाँधे हुए है।

अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी आदि तत्व उसी के सहारे समष्टिरुप से सृष्टिमय और व्यष्टिरुप से शरीरमय होकर एकत्रित हैं। जब यह सूत्र खुलता है तब स्वभावतः सब तत्व अपने कारण में लीन हो जाते हैं। इसी दशा में सृष्टि का प्रलय और देह की मृत्यु कहीं जाती है।

प्रकृति की अनेकों उपाधियों मे एक ही चिन्मात्र-सत्ता है

विश्व ब्रहमण्ड में जो कुछ भी दिखाई देता है उस सबका कारण मूल माया है। अव्यक्त मूल माया जिस सत्ता को लेकर व्यक्त होती है, शास्त्रीय शब्दों में उसे ब्रह्म कहते है।

जो विश्व ब्रम्हाण्ड में व्यापक परमाधार चिन्मात्र-सत्ता है उसी को परमात्मा कहते हैं और पिंड की दृष्टि से मानव अहं में उसी व्यापक चित्त-सत्ता को आत्मा कहते हैं। इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की सीमा में व्याप्त चेतना को ही अहं कहते हैं। यह अहमिति भाव ही मनुष्य का स्वरुप है। यह भाव जिस नाम और रुप से मिल जाता है, उसी को अपना स्वरुप मानने लगता है। देह से मिलकर ही इसने रुप, नाम, वर्णाश्रम और जन्म मृत्यु आदि को अपने में कल्पित कर लिया है। इसी प्रकार मन के साथ मिलकर इसने दुःख-सुखादि द्वन्द्वात्मक वेदना को अपने में आरोपित कर लिया है, और बुद्धि के साथ तन्मय होकर अपने को ज्ञानी या अज्ञानी कहता रहता है। यही अहं का बंधन है जो अपने ही अज्ञान के कारण है।

ध्यान रहे! इस अज्ञान की निवृति केवल ज्ञान से होती है। जिस प्रकार अज्ञान के कारण असत् पदार्थों से मिलकर मानव अहं बन्धन-दुःखों को प्राप्त हो रहा है, उसी प्रकार सत्यस्वरुप से मिलकर यह मुक्ति आनन्द को प्राप्त होता है।

चिन्मात्र-सत्ता के योग से ही सब कुछ व्यक्त होता है

प्रकृति के सूक्ष्म एवं दिव्य द्रव्यों के द्वारा परम सत्ता के योग से दिव्य गुण तथा दिव्य रुप प्रकट होते हैं। इसी प्रकार स्थूल पंचभौतिक द्रव्यों के द्वारा उसी परम शक्ति के योग से स्थूल रुप प्रकट होते हैं।

परमाधार परम आत्मा की सत्ता जब प्रकृति के सर्वोच्च दिव्य स्तर से सम्बन्धित होती है तब उस स्तर में दिव्य आनन्द का ही अनुभव होता है और

नीचे उतरकर विज्ञानमय कोष मे उसी सत्ता के योग से दिव्य ज्ञान एवं विज्ञान व्यक्त होते हैं।

उसी परम चेतना के योग से मनोमय कोष में भावों का विकास होता है और नीचे, प्रकृति के प्राणमय क्षेत्र में उसी सत्ता के प्रकाश से वासनाओं और कामनाओं का उद्‌भव होता है तदनुसार उसी सत्ता के आधार से भूलोक के द्रव्य भिन्न-भिन्न स्थूल रूपों को धारण करते रहते हैं। जिस प्रकार विद्युत-शक्ति पहले अव्यक्त निराकार रूप में रहती है, परन्तु यंत्र के योग से वही व्यक्त होकर पुनः भिन्न-भिन्न काँच के रंगरूप के अनुसार ही भिन्न-भिन्न रंगों का प्रकाश देती है, और भिन्न-भिन्न यन्त्रों के अनुसार एक ही विद्युत् की भिन्न-भिन्न क्रिया दर्शित होती है।

वस्तुतः विद्युत् में न रंग है, न कोई क्रिया है, भिन्न-भिन्न पात्र अथवा यन्त्र विद्युत्-शक्ति के सहारे अपने-अपने गुण-स्वाभाव को व्यक्त कर रहें हैं। उसी प्रकार प्रकृति अपने भिन्न-भिन्न नामरूप एवं गुण-धर्म अथवा स्वाभव को चिन्मात्र-सत्ता के योग से ही व्यक्त कर रही है।

नाम-रुपमय जगत् में जो कुछ भी क्रिया दर्शित होती है, वह सब परमाधार चित्-सत्ता के योग से ही प्रकृति की सीमा के अन्तर्गत होती है; किन्तु चिन्मात्र-सत्ता स्वरुपतः निष्क्रिय है, नित्य निर्विकार एंव एकरस है, वह सर्वमय होकर भी सर्वातीत है।

उसी सत्ता के द्वारा मनुष्य जीवन-मरण, संयोग-वियोगादि विविध द्वन्द्वों को देख रहा है। फिर भी आश्चर्य है कि उस परमाधार सत्ता को अज्ञानी मनुष्य नहीं जानता जिसके द्वारा सब कुछ जानता है; उसी के विषय में नही सुनता जिसके द्वारा सब कुछ सुनता है; उसी का योग-लाभ नहीं प्राप्त करता, जिसके द्वारा अनेकों का संयोग वियोग देखता रहता है।

सर्वसंकल्पसंशान्तौ प्रशान्तधनवासनम्।
न किंचिद्‌भावनाकारं यत् तत् ब्रह्म परं विदुः।।

'मन के सब संकल्प क्षीण हो जाने पर और अविद्या से उत्पन्न स्वार्थ की भावनायें निवृत्त हो जाने पर निर्मल आकाश के समान चित्त की जो भावना रहित अवस्था है उसी को परब्रह्म कहते हैं।'

मौन और एकांत

गेहमेवोपशान्तस्य विजनं वर-काननम्।

अशान्तस्याप्यरणयानी विजना सजनापुरी।।

'जिस योगी का मन शान्त है उसको घर ही निर्जन बन के समान है, परन्तु जिस मनुष्य का चित्त शान्त नहीं, उसके निर्जन वन भी बड़े नगर के तुल्य हैं।'

यह तो सभी विचारवान् मनुष्य समझते होगें कि जनशून्य एकान्त गिरि-गुहा में रहने पर भी चंचल मन जगत्-प्रपंच की भीड़ जोड़ता रह सकता है और वाणी से मौन रहते हुए भी मन की उद्‌दंडता, चंचलता के कारण निरन्तर शब्दशून्य कोलाहल करते हुए मनुष्य कदापि मौनावलम्बी नहीं हो सकता। अतः साधकों के लिए साधनाभ्यास में इन्द्रियों समेत मन का शान्त हो जाना ही सच्चा मौन है, और अनेकता के परे एक अंत को पा लेना ही सच्चा एकान्त है।

वास्तव में विषयोन्मुख इन्द्रियों के पथ से जब तक मन विविध विषयों में दौड़ता रहता है तब तक वाणी मात्र के मौन से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता; इस प्रकार के मौन से परिमित भाषण अनेकों गुना श्रेष्ठ है, और शुद्धाचार है; क्योकि कभी-कभी वाणी मात्र से मौन रहने मे दम्भ एवं मिथ्याचार सिद्ध होता है। इसी प्रकार कभी-कभी चंचल चित्त वालों के लिये जनशून्य स्थान, अनेकों कुभावनाओं, कुसंकल्पों एवं कुविचारों की सत्कार भूमि बनता रहता है।

बुद्धिमान् साधक ध्यान देकर समझे! यदि आप अपने साधनाभ्यास के लिए, मनोनिरोध के लिए मौन और एकान्त स्थान चाहते हैं तो विचार-दृष्टि से देख लीजिए; इस जगत् की अनेकता के आपही एक अन्त हैं। आपके अतिरिक्त आपसे बाहर संसार में कहीं भी ऐसा एकान्त नहीं मिल सकता जहाँ किसी विध्न-बाधा का भय न हो। आप योगसिद्धि के लिये कोई शब्द शून्य स्थान चाहते हैं तो संसार में आपकी हृदय-गुहा से बढ़कर कोई भी शून्य गुहा नहीं मिल सकती जो इसके समान स्वानुकूल और सुरक्षित हो।

सच्चे योगाभ्यासी अपनी इन्द्रियों समेत मन से मौन रहकर इसी एकान्त हृदय-गुहा का आश्रय लेकर बुद्धि में सत्य ज्ञान का भण्डार भरते हैं। वे योगी जब कभी बाहरी सुखों के मध्य से होकर निकलते हैं, जिससे कि चंचलता, थकान और निर्बलता उत्पन्न होती है और मानसिक शक्तियों की हानि होती है तब वे इस प्रकार की क्षति को आंतरिक एकान्त और मन के मौन द्वारा ही पूरी

करते है! यहीं पर वह साधक स्वस्थ और शान्त होते हैं।

वासनाओं का दमन करने के लिये जिस शक्ति की आवश्यकता है एवं उनको भली प्रकार देखने के लिये जिस शान्ति की आवश्यकता है और उन्हें समूल नष्ट करने के लिये जिस ज्ञान की आवश्यकता है, सब कुछ मौनपूर्वक एकान्त सेवन से ही प्राप्त होता है।

मनुष्य को दिव्य शक्ति, परम शान्ति एंव निरावरण सत्य का द्वार मौन और एकान्त से होकर जाने में मिलता है जो कि हर एक के लिये खुला है, परन्तु कोई विरले वीर पुरुष इस परमानन्द धाम के द्वार को पाते हैं और प्रवेश करते हुए मुक्तस्वरुप हो जाते हैं। इस प्रकार के यथार्थ मौन एकान्त सेवन किये बिना आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती; क्योंकि विविध कामनाओं के कोलाहल में विचरते हुए मन को कहीं न तो शान्ति मिलती है न स्थिरता प्राप्त होती है; इसीलिए बुद्धि को अन्तरात्मा की वह दिव्य वाणी नहीं सुनाई देती, जिससे कि अज्ञान दूर होता है।

जिस मौन के द्वारा एकान्त में स्थिरता प्राप्त होती है उस मौन का अभ्यास दृढ़ होने के लिये जगत-दृश्यों की भीड़ से एवं विषय-वृत्तियों के कोलाहल से दूर रहना होगा; क्योंकि उस भीड़ एवं कोलाहल के बीच में मनुष्य की आँखें चौंधिया जाती हैं कान बहरे हो जाते हैं। इस दुर्दशा से वही व्यक्ति बच सकता है जिसने भोग जनित सुखों का त्याग कर दिया हो।

हर एक भोगी मनुष्य विविध विषय-सुखों की प्राप्ति में जो कुछ शक्तिरुपी मूल्य व्यय करता है, उस शक्ति की पूर्ति आन्तरिक एकान्त से ही होती है, और उस आन्तरिक एकान्त में रहने की योग्यता जब (इन्द्रियों एवं मन के मौन होने से) प्राप्त होती है तभी मनुष्य की बुद्धि शुचितम सत्य के अनन्त ज्ञान-सिन्धु में निर्भय होकर विहरती रहती है।

मानव का मुख्य विश्राम-स्थान मौनमय एकान्त में है, वहीं से उसको संसार की भीड़ में वासना प्रेरित होकर कामनाओं के पथ से उतरना पड़ता है। मनुष्य प्रशान्त एकान्त में ही ठहर कर सत्य के योग के लिये अथवा संसार के भोग के लिये साधनशक्ति का संग्रह करता है। सन्तशब्दः-

काह भयो बन बन फिरे, जो बनि आयो नाहिं।
बनते बनते वनि गयो, तुलसी घर ही माहिं।।

उपासना के साधन

सन्त शब्दः- मन मथुरा दिल द्वारिका, काया काशी जान।
दसद्वारे का देहरा, तामे पीव पछान।।

दुग्ध से मक्खन निकालने के लिये परिश्रम चाहे जितना करना पड़े परन्तु दुग्ध से मक्खन कभी दूर नहीं है। इसी प्रकर अपने जीवन में जीवनधार परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रयत्न चाहे जितना करना पड़े, लेकिन वह परमानन्द-स्वरुप परमतत्व अपने जीवन से कभी भिन्न नहीं हैं; कोई भी मन को पूर्णरूपेण स्थिर करके उसे अपने आप में पा सकता है।

यथार्थ ज्ञान न होने के कारण मनुष्य अपनी भावनानुसार भगवान् की उपासना करने के लिये किसी शिल्पकार के द्वारा निर्मित मन्दिर एवं प्रस्तर-प्रतिमा का आश्रय लेते हैंऔर उसी में अपने आराध्य प्रभु की प्रतिष्ठा करके उसी को पूजते हैं लेकिन प्रकृतिमाता के बनाये हुए देहरूपी मन्दिर में निवास करने वाले सर्वोपरि प्रिय अपने आप रूपी अरूप-रूप में परम प्रभु की प्रतिष्ठा नहीं करते। इससे अधिक सुन्दर-मन्दिर और प्रिय मूर्ति संसार में भला कहाँ मिल सकती है ?

जिन विवेकी पुरुषों की समझ में यह सुलभ युक्ति आ गई है वह तो देहरूपी मन्दिर मे हृदयरुपी एकान्त गुहा के भीतर परम प्रिय अहंरूपी प्रतीक में अपने परम प्रभु की स्थापना करके अभिन्न भाव द्वारा, अद्वैत ज्ञान की दृष्टि से परम प्रभु के परमानन्दस्वरुप की उपासना करते हुए परम शान्ति को प्राप्त हो चुके हैं। ऐसे ही सन्तों का सन्देश है कि :-

दादू देखूँ पीव को, दूसर, देखूँ नाहि।
सबै दिशा ते सोधि करि, पाया घट ही माहि।।
काया अन्तर पाइया, सब देवन को देव।
सहजै आप लखाइया, ऐसा अलख अमेव।।
सर्वस्यैव जनस्यास्य विष्णुरभ्यन्तरे स्थितः।
तं परित्यज्य ये यान्ति बहिर्विष्णुं नराधमाः।। (यो०वा०)

'सब प्राणियों के हृदय में विष्णु (आत्मा) निवास करते हैं। अपने भीतर रहने वाले विष्णु को छोड़कर विष्णु की तलाश जो बाहर करते हैं वह अधम हैं'

महत्ता से ही महान् का अनुभव होता है

जिस महान् तत्व से सब कुछ प्रकाशित हो रहा हैं, जो सर्वाधार हैं परम सौन्दर्य-निधि है; उसी की सुन्दरता उसीकी शक्तिमत्ता अनन्त नामरुपों के द्वारा अभिव्यक्त हो रही है। बुद्धिमान् मानव उसी महान् के शक्ति-सौन्दर्य को कहीं अप्रतिहत गति के रुप में, कहीं विशद गुणों एवं दिव्य-ज्ञान के रुप में और कहीं अकथनीय प्रेम के रुप में प्रत्यक्ष पाते रहते हैं।

उस एक परमोत्कृष्ट तत्व की महत्ता से महिमान्वित अनेकों पदार्थों को जो देखते हैं वह जगत् को देखते हैं, और इस जगत् की अनेकता के पीछे परमाधार तत्व को जो कोई देखते हैं वही परमोपासनीय जगदीश्वर को देखते हे।

अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार जो कुछ भी दृंश्य-जगत् दीख रहा है उसे तो सर्वसाधारण प्राणी देखते हैं परन्तु जिसके द्वारा सब कुछ दीख रहा है उसे कोई लाखों में एक देखने की जिज्ञासा रखते हैं और लाखों जिज्ञासा रखने वालों में कोई बिरले ही सौभाग्यवान् उसे अनुभव कर पाते हैं।

जब तक उस सर्वाधार महान् तत्व की सर्वव्यापी महत्ता का ज्ञान नहीं होता तभी तक मनुष्य संसार के विनाशी पदार्थों को परम सुन्दर एवं महत्तवपूर्ण मानकर उन्हीं में मोहित होकर रागी बनता है, और जब वे नष्ट होते हैं तब अत्यन्त दुःख को प्राप्त होता है। लेकिन जो विवेकी यथार्थदर्शी पुरुष है वह अनन्त नामों एवं अनन्त रुपों तथा अनन्त गुणों और चमत्कृतियों के पीछे एक ही परमोत्कृष्ट तेजोमय सत्ता को देखता है, और उसी परमाधार तत्व का उपासक बनता है।

तत्वदर्शी पुरुषों में भी कोई उस महान् की महत्ता का दर्शन अपने से बाहर भिन्न-भिन्न पदार्थों में करते हैं और अपने को अलग रखते हैं। कोई उस महान् की महत्ता को अपने में ही देखते हैं और अपने से ही प्रेम करते हुए अपने आपमें योगस्थ होकर परम शन्ति को प्राप्त होते हैं।

अपने से भिन्न वस्तु में महान् की महत्ता को देखते हुए उसी वस्तु के सहारे उस एक महान् तत्व में योगस्थ होना चक्कर का मार्ग है, और अपने में ही उस महान् की महत्ता का अनुभव करते हुए, अपने आपके सहारे उसका उपासक होना सीधा सरल मार्ग है।

अपने आपमें ही उपास्यदेव

ईश्वरों न महाबुद्धे दूरे न च सुदुर्लभः।
महाबोध-मयैकात्मा स्वात्मेव परमेश्वरः।। (यो०वा०)

'ईश्वर न कहीं दूर-देश में स्थित है न बहुत दुर्लभ हैं, अपना बोधयुक्त (चिन्मात्र-स्वरुप) आत्मा ही परमेश्वर है।'

जो अपने जीवन के साथ परमाधार होकर नित्य मिला हुआ दिखलाई दे रहा है, जिसका संग कहीं भी किसी तरह नहीं छोड़ा जा सकता, अर्थात् जिससे अटूट सम्बन्ध है वही अपना उपास्य देव परमेश्वर है।

ऐसे तो मनुष्य अपने जीवन में अनेकों सम्बन्धित पदार्थों को अपने निकट देखता है, और अनेकों को अपना मानता है परन्तु उन अपना मानने वाले पदार्थों से एक दिन में ही वह अनेकों बार मिलता और बिछुड़ता हैं। जो देह सदा अपने साथ प्रतीत होती है, जिसको निश्चित होकर अपनी कहते हैं, उससे भी हर एक मनुष्य स्वप्नावस्था में अलग होता है और जाग्रत अवस्था में फिर मिलता है। इसके भी आगे जो मन, बुद्धि आदिक पदार्थों का संयोग है वह भी सुषुप्ति अवस्था में छूट जाता है। वास्तव में सबसे परे सबका आधार एक चिन्मय-स्वरुप सत्ता ही ऐसी शेष रहती है, जिसका संग कहीं भी नहीं छूटता, जिसको प्राणी किसी तरह नहीं छोड़ सकता। अतः जिससे हम कभी अलग नहीं हो सकते वही अपना नित्य उपास्यदेव है। उसी का नित्य योगानुभव करना साधक की साधना का एकमात्र सत्य लक्ष्य है।

अविवेकवश मनुष्य अपने आपमें ही अपने परमाराध्य को न जानकर अन्यान्य भिन्न पदार्थों को अपना मानता है, और उन्हीं में ममत्व बढ़ाकर मोहासक्त हो, संयोग-वियोग के झोंको में झूलता रहता है; लेकिन वास्तव में जो अपना परम प्रभु है उसके नित्य योग में स्थित नहीं हो पाता। ऐसी दशा में भ्रमित जीव को अपने उपास्यदेव के तत्व-स्वरूप का ज्ञान कराने वाले सन्त-सद्गुरुदेव ही हैं। साधक को निरभिमान होकर उन्हीं का आश्रय लेना चाहिये। साथ ही जिस शास्त्र से, या जिसके उपदेश से, जिस साधना से, जिस कर्मानुष्ठान से अथवा जिसकी आराधना से अपने आपमें आत्मारूप परमात्मा का बोध हो उसी का आश्रय लेना चाहिये, उसी की ओर देखना चाहिये। अपने में अपने उपास्य देव का योगानुभव करने के लिये इस जगत्-प्रपंच के संगाभिमान का त्याग करना पड़ेगा, जो कि जीवन को जकड़े हुए हैं। उस प्रभु की दिव्य वाणी श्रवण करने के लिये इस जगत्-प्रपंच के कोलाहल से दूर हटना

पड़ेगा, जिसकी कर्कश ध्वनि से कान बहरे बन जाते हैं।

उस अव्यक्त के अभिव्यक्त होने वाले विश्वमय सौन्दर्य का दर्शन करने के लिये इस जगत्-दृश्य से आँखे हटा लेनी होंगी, जिसके कारण आँखों में अन्धत्व छा रहा हैं। उस परमात्मा का पूर्ण योग इस जगत्-प्रपंच के संयोग-वियोगमय भोग से छूट जाने पर ही होगा।

न ह्येष दूरे नाभ्यासे नालभ्यो विषमे न च।
स्घनन्दाभासरुपोऽसौ स्वदेहादेव लभ्यते।।(यो० वा०)

'न परमात्मा दूर हैं, न कठिनाई से प्राप्त होने वाले हैं, वह तो अपने ही भीतर से निजानन्द के रुप में प्रकट होते हैं।'

श्रद्धा

नास्ति श्रद्धासमं पुण्यं नास्ति श्रद्धासमं सुखम्।
नास्ति श्रद्धासमं तीर्थं संसारे प्राणियां नृप।।(यो० वा ०)

' राजन्! संसार में प्राणियों के लिये श्रद्धा के समान न तो कोई पुण्य है, न श्रद्धा के समान कोई सुख है और न श्रद्धा के समान कोई तीर्थ है।'

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं चयत्।
असदित्युच्चते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।। (गीता)

'हे अर्जुन! बिना श्रद्धा के हुत हवन तथा दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है वह समस्त असत् ही समझों। उसका न तो इस जन्म में कुछ फल मिलता हैं न परलोक में।'

श्रद्धा का भावार्थ

जिस परम श्रेष्ठ से श्रेय की सिद्धि होती है उसके प्रति जो सरल हृदय की प्रीतियुक्त भावना है, उसे श्रद्धा कहते हैं। जिसके सद्गुणैश्वर्य एवं ज्ञान की थाह अपनी बुद्धि से न मिलती हो उसके प्रति जो सविनय प्रेम-भावना विकसित होती है, उसी को श्रद्धा कहते है। अर्थात् किसी के प्रति हृदय में अत्यंत आदरपूर्वक जो पूज्य भावना जागृत होती है, उसीको श्रद्धा कहते हैं।

यदि हृदय में श्रद्धा जागृत न हो तो सन्त-महात्मा एवं गुरुदेव अथवा वेद-शास्त्रादि और तीर्थ-देवतादिकों के निकट रहने पर भी समुचित फल की प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि यह सब श्रद्धा से ही फल देते हैं। सदा से ही अधमातिअधम, नीचातिनीच पत्तियों को भी पावन एवं पुण्यवान् बना देने की शक्ति इसी श्रद्धा मे दिखाई देती है। सत्य शान्ति का ज्ञान तो किसी श्रद्धालु को शुद्ध सात्विक श्रद्धा ही के द्वारा होता है। इस संसार के दुःख-सागर से पार होने का मार्ग श्रद्धा की दृष्टि से ही दिखाई देता है।

सात्विक श्रद्धा की पूर्णता में अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। श्रद्धा-भाव की विशेषता से ही जीवन में ऐसी सुन्दरता बढ़ती जाती है, जिसको देखकर श्रद्धास्पद स्वयम् सन्तुष्ट होते हैं, और अपनी ज्ञानमयी कृपाकिरणों के द्वारा अधिकारी जिज्ञासु की विवेकदृष्टि खोल देते है। उसी दृष्टि से प्रत्येक विषय का

सत्य दर्शन होता है। हजारों लाखों मनुष्यों में कोई श्रद्धालु व्यक्ति ही ज्ञानोपदेश को ग्रहण कर पाता है। श्रद्धा की समुचित जागृति में ही मनुष्य का चंचल मन सांसारिक सुखों से विरक्त होकर परमात्मा के स्मरण में स्थिर रहने लगता है।

श्रद्धा के बल से ही मलिन चित्त अशुद्ध चिन्तन का त्याग करके परमात्मा का चिन्तन करता रहता है एवं बुद्धि भी जड़ पदार्थों में ही तन्मय न रह कर परमात्मज्ञान में अधिकाधिक सूक्ष्म-दर्शिनी होकर दिव्य हो जाती है; और इसी प्रकार की विशुद्ध बुद्धि के द्वारा माया-बद्ध अहं की परमगति अथवा मुक्ति होती है।

श्रद्धा तीन प्रकार की होती है

अपनी कुसित कामनाओं की पूर्ति के लिये जो क्रूर स्वभाव वाली शक्तियों को भजते हैं, वे तमोगुणी श्रद्धावाले राक्षसी प्रकृति के व्यक्ति हैं। जो समुचित धर्म और शास्त्रसम्मत मर्यादा पूर्वक सांसारिक सुख, ऐश्वर्य-भोग एवं स्वर्ग की प्राप्ति के लिये दैवी शक्तियों के उपासक हैं, वे रजोगुणी श्रद्धावाले व्यक्ति हैं और आत्मकल्याणार्थ निष्काम भाव से भक्ति, मुक्ति के लिये केवल परमात्मा के जो उपासक होते है वे सतोगुणी श्रद्धावाले पुरुष हैं।

सात्विकी श्रद्धावालों का जीवन ज्ञान और सुख-शान्तिमय होता है; राजसी श्रद्धावालों का जीवन विक्षिप्त और भोगलोलुप होने के कारण दुःखयुक्त होता है; और तामसी श्रद्धावाले लोगों को जीवन मूढ़ता अथवा जड़तारुप अज्ञान अन्धकारमय होता है।

श्रद्धा से ही सद्गुरु की प्राप्ति

जब तक सात्विक श्रद्धा उदय नहीं होती तब तक अनेकों सन्तों महात्माओं को देखते हुए, उनके वचन सुनते हुए भी प्रकट रुप में ज्ञानस्वरुप गुरुदेव नहीं मिलते।

जो मनुष्य कुछ भाव विकास होने पर अपनी स्वार्थ-बुद्धि से किसी साधु-सन्त के भौतिक नामरुप में ही गुरुतत्व सीमित कर लेते हैं, वे सद्गुरु स्वतः अपनी महती दया से निज स्वरूप का ज्ञान नही कराते।

कुछ द्रव्य की दक्षिणा देकर कान में मन्त्र सुन लेने मात्र से ही सद्गुरुदेव नही प्राप्त होते लेकिन सात्विक, शुद्ध श्रद्धावालों को वे अवश्य

मिलते हैं। वास्तव में सद्शिष्य की शुद्ध जिज्ञासा एंव सात्विक श्रद्धाभाव के अनुसार व्यापक परमात्मा की ज्ञानमयी शक्ति ही पवित्र अन्तःकरण वाले महान् पुरुषों के द्वारा अज्ञान अन्धकार में भटकते हुए शिष्य का सत् पथ प्रदर्शन करती रहती है। यह ज्ञानमयी परम शक्ति ही सद्गुरुतत्व है, जिससे जीव का परम कल्याण होता है।

बुद्धि के साथ श्रद्धा का योग होता है तभी मनुष्य को श्रद्धास्पद का ज्ञान होता है, ज्ञान होने पर ही श्रद्धास्पद के प्रति प्रेम होता है और प्रेम होने पर ही उनका यथोचित संग होता है। इस प्रकार श्रद्धास्पद का संग ही प्रपंचमय जगत् से असंग बना देता है। सबसे असंग हो जाना ही तो वस्तुतः सत्य का संग है।

उत्तम श्रद्धालु

सात्विक, शुद्ध श्रद्धा वाले व्यक्ति ही सर्वोत्तम श्रद्धालु हैं। उत्तम श्रद्धालु को पथ प्रदर्शन सद्गुरुदेव ही करते हैं और ये श्रद्धालु भी सर्वभावेन सद्गुरुदेव के ही आश्रित होकर रहते हैं। इसीलिये श्रद्धालु सदा निर्भय, निश्चिन्त होते हैं।

श्रद्धालु के हृदय में सद्गुरुदेव के अतिरिक्त और किसी के लिये स्थान नहीं मिलता। वह सरलता एंव सद्भावपूर्वक अपना जीवनभार सद्गुरु के हाथों में देकर अपना सब कुछ सुरक्षित और सार्थक समझता है।

गुरुदेव की वाणी सुनने के लिये श्रद्धालु की सभी इन्द्रियाँ मौन रहती हैं, मन भी शान्त रहता है और बुद्धि चैतन्य होकर सावधानी से गुरुप्रदत्त ज्ञान को ग्रहण करती है। श्रद्धालु अपने हानि-लाभ, पतन-उत्थान की चिन्ता नहीं करता। जो कुछ आता है उनकी इच्छा समझकर स्वीकार करता है, जो कुछ जाता है उसे भी उनकी इच्छा समझकर जाने देता है और जो कुछ नहीं भी मिलता, उसे भी उन्हीं की रूचि में छोड़ते हुए सन्तुष्ट रहता है।

श्रद्धालु निरन्तर अपने श्रद्धास्पद की अदृश्य शक्ति को अपने साथ अनुभव करता है और अपनी रक्षा के विषय में निश्चिन्त रहता है। श्रद्धालु का शरीर कहीं भी रहें परन्तु हृदय से अपने आराध्य को दृढ़ता से पकड़े रहता है। बुद्धि में उन्ही का ज्ञान रहता है, मन में उन्हीं के सद्भाव रहते हैं, तदनुसार प्रत्येक क्रिया सद्भावानुरक्षित होने के कारण सुन्दर फल देती है; परन्तु श्रद्धालु प्रत्येक प्राप्त फल को श्रद्धास्पद की सेवा में निवेदित करते हुए

ही सन्तुष्ट रहता है।

श्रद्धालु अपने प्रभु के प्रेम से इस प्रकार धनी होता है कि और कुछ चाहता ही नहीं, उसमें अभाव का ही अभाव हो जाता है; कभी वह अटूट धैर्य एवं सुन्दर भाव की गम्भीरता में दृढ़ रहकर श्रद्धास्पद के लखाये हुए सत्य लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है। श्रद्धालु पग-पग पर अपने प्रभु की दया का अनुभव करता है, वह दया की याचना नहीं करता। वह जिधर देखता है, उनकी दया से ही अपने को सुरक्षित पाता है। जिस प्रकार संसार से पूर्ण विरक्त और सत्य से पूर्ण अनुरक्त सन्त-सत्पुरुष कहीं-कहीं दिखाई देते हैं, उसी प्रकार संसार में उत्तम श्रद्धावाले प्रेमी, जिज्ञासु भी कहीं-कहीं मिलते हैं।

जिसका अन्तःकरण सरल एंव शुद्ध है उसी में सात्विक श्रद्धा प्रकाशित होती है। सन्त-सद्गुरु की समीपता में रहकर जो उनकी आज्ञानुसार सदाचरण, सद्वर्तनरुपी सेवा करता है, उसी की श्रद्धा सात्विक होती है। जो स्वच्छंद, स्वेच्छाचारी नहीं होता, जो अपने श्रद्धेय प्रभु की रुचि-विरुचि कुछ भी नहीं करता, उसी की सर्वोत्तम श्रद्धा होती है।

जो अपनी सेवाओं का मूल्य नहीं चाहता, जो फलाशा नहीं रखता, यही उत्तम श्रद्धालु में त्याग होता है। जो उपने प्रभु के संकेतानुसार चलने में कहीं भी आलस्य नहीं करता और कर्तव्य पालन में जो प्रमादी नहीं होता; जो सदा हर्षित रहकर सेवा धर्म में तत्पर रहता है, यही उत्तम श्रद्धालु का तप हैं। इस प्रकार के त्याग और तप से उत्तम श्रद्धालु पवित्रता एवं शक्ति से सम्पन्न होता है। जो उत्तम श्रद्धालु अपनी बुद्धिमत्ता का गर्व नहीं करता और सदा अपने प्रभु के सम्मुख जो अपनी बुद्धि को निष्पक्ष रख सकता है; जो विनम्र और दयालु होकर, क्षमावान् और सहनशील होकर सभी प्राणियों पर हित-दृष्टि रखते हुए शुद्ध व्यवहार करता है, वही यथार्थ ज्ञानी होता है। उत्तम श्रद्धालु जगत् की वस्तुओं के वास्तविक रुप को जान लेता है; अतएव वह मोही नहीं होता। वह स्वार्थलोलुप भी नहीं होता, इसीलिये रागी अथवा द्वेषी नहीं होता, वरन् पूर्ण प्रेमी होता है और इसी कारण उत्तम श्रद्धालु पूर्ण तृप्त होता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। (गीता)

'जितेन्द्रिय तथा तत्पर श्रद्धावान पुरुष ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।'

श्रद्धा के साथ प्रेम

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयांकितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेम निगद्यते।। (भक्तिरसामृत)

'जिससे हृदय अति कोमल हो जाता है, जिससे अत्यन्त ममता उत्पन्न होती है, उसी भाव को बुद्धिमान्-जन प्रेम कहते हैं।'

'प्रेम प्रभू को रुप है, त्यों हरि प्रेम स्वरुप ।
एक होय द्वै यों लसै, ज्यों सूरज अरु धूप।।
'इक अंगी बिनु कारनहि, इकरस सदा समान।
गनै प्रियाहिं सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान।।'

प्रेम की महिमा

साधक में जब सात्विक श्रद्धा विकसित होती है तभी प्रेमास्पद प्रभु का ज्ञान होता है, और श्रद्धा के साथ जब प्रेम जागृत होता है तब उनसे पूर्ण योग लाभ होता है। प्रेम के समान साधक के लिये अन्य कोई सिद्धिप्रद साधन नहीं है। विशेषकर प्रेमी सन्त तो प्रेममय प्रभु की प्राप्ति के लिये एकमात्र साधन प्रेम ही बतलाते हैं।

'प्रेम बराबर योग ना, प्रेम बराबर ज्ञान।
प्रेम बिना जप और तप, सबही थोथा जान।।'
'प्रेम स्वर्ग है स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक।
ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक।।'

प्रेम की महिमा का वर्णन कितना ही किया जाय फिर भी वह कम ही है। प्रेम इतना परमोत्कृष्ट हैं कि वह प्रेमी को प्रियतममय बना देता है, जहाँ प्रेमी और प्रेमास्पद में भेदभाव ही नहीं रह जाता। एक सन्त इसी प्रकार की तन्मयता अनुभव करते हुए कहते हैं-

'तू तू करते तू भया, मुझमें रही न हूँ।

बारी तेरे प्रेम की, जित देखूँ तित तूँ।।'
'तू तू करता तू भया, तुझमें रहा समाय।
तुझमें तन मन मिल रहा अबकहुँ अन्त न जाय।।'

प्रेम और आनन्द

प्रकृति के जड़त्व में खेलती हुई चेतना का प्रेम है। प्रेम ही इस चेतना की सर्वोत्कृष्ट शक्ति है, जो नित्य ऊर्ध्वोन्मुख ही रहती है। प्रेम ही इस चेतना का सर्वोपरि गुण है, जिसको देखते ही प्रेमास्पद प्रभु रीझ जाते हैं। प्रेम ही इस चेतना का वह अनुपम प्रकाश है जिसमें प्रेमास्पद प्रभु के आनन्दमय सौन्दर्य का दर्शन होता है।

प्रेम सर्वभावेन आनन्द के लिये है, और आनन्द की सौन्दर्यमयी विभूति केवल प्रेम के लिये है। आनन्द का श्रगांर प्रेम ही के द्वारा होता है। प्रेम के बिना आनन्द सौन्दर्य को किसी भी प्रकार नहीं देखा जा सकता।

प्रेम शक्ति में है और आनन्द शक्तिमान् में है। शक्ति अपने प्रेम के द्वारा आनन्दस्वरुप शक्तिमान् से तद्रूप है और शक्तिमान् प्रेमास्पद अपने आनन्द के द्वारा प्रेमी की शक्ति से तन्यम है; यही प्रेम और आनन्द का दिव्य भोग है। इसी प्रेम के लिये सन्त की सम्मति है:-

एक मूल गहि लीजिये, रखिये एकै टेक।
दूजी राह न चालिये, यह है प्रेम विशेष।।

साधनों को सिद्ध करने वाला प्रेम ही है

वास्तव में सबके एकमात्र आधार आनन्दस्वरुप परमात्मा ही हैं और वह केवल प्रेम के द्वारा ही प्रत्यक्ष होते हैं। इस परम दुर्लभ प्रेम का विकास तप और त्याग से पवित्र हुए अन्तःकरण में ही होता है, और सद्विवेक दृष्टि एवं तप तथा त्याग समर्थ सद्गुरुदेव की कृपा से ही पूर्ण हो पाते है; और सद्गुरुदेव की कृपा से ही पूर्ण हो पाते है; और सद्गुरुदेव सात्विक श्रद्धा के द्वारा ही प्राप्त होते है। श्रद्धा से साधना को प्रगति मिलती है और प्रेम से साधना की सिद्धि होती है। प्रत्येक साधक को साधना के सहारे प्रेम तक पहुँचना है। फिर तो प्रेम स्वंय परमाधार का योग करा देता है।

प्रेम का स्वाभाव है अनन्य ध्यान में निरन्तर स्थिर रहना। प्रेम के योग से ही प्रेमी अपने भावानुसार प्रेमास्पद का दर्शन करता रहता है।

श्रद्धा और प्रेम का दिव्य योग

श्रद्धा और दृष्टि से ही भावुक जिज्ञासु अपने आराध्य देव के अलौकिक गुण-सौन्दर्य एंव शक्ति तथा ऐश्वर्य को देख पाते है। इस प्रकार उनकी महत्ता का बोध होता है तभी आराध्य प्रभु के प्रति प्रेम बढ़ता जाता है। प्रेम के बिना श्रद्धा की साधना पंगुवत् होती है, उसमें वास्तविक गति नहीं होती, और श्रद्धा के बिना प्रेम की साधना दृष्टिहीन सी रहती है, जिसमें गति तो होती है, लेकिन ज्ञान प्रकाश रहित होने के कारण विमल गति नहीं होती।

श्रद्धा के द्वारा साधक विवेकदृष्टि प्राप्त करता है और सद्गुरुप्रदत्त ज्ञानप्रकाश में अपने आराध्य प्रभु के यथार्थ रुप को देख पाता है, इसी प्रकार प्रेमयोग के द्वारा उनकी ओर बढ़ते हुए अपने भावानुसार उनसे मिल पाता है।

श्रद्धालु व्यक्ति को अपने श्रद्धास्पद प्रभु की ओर से जो कुछ भी मिलता है, वह कितनी ही छोटी वस्तु क्यों न हो, उसे वह श्रद्धाकी दृष्टि से आदरभावपूर्वक स्वीकार करता है और अपने पास अपनी कही जाने वाली जो वस्तु उसे दीखती है, प्रेम की शक्ति से आराध्य प्रभु के लिये उसी वस्तु का वह त्याग करता जाता है।

प्रेमी व्यक्ति प्रेम के द्वारा अपने सब कुछ का त्यागी होता है और श्रद्धा के द्वारा आराध्य प्रभु के सब कुछ का पूर्ण अनुरागी होता है। प्रेम की पूर्णता में असत् का त्याग और श्रद्धा की पूर्णता में सत्य का ग्रहण होता है। सर्वसाधारण मनुष्यों को देखिये तो उनके जीवन की इसीलिए अव्यवस्थित दशा रहती है कि कदाचित् कहीं प्रेम की अधिकता हुई तो श्रद्धा नहीं होती और कहीं श्रद्धा वृद्धिगत हुई तो प्रेम नहीं होता। जहाँ कहीं प्रेम होता है वहाँ श्रद्धा के योग्य गुणगरिमा अथवा भावविशालता तथा ज्ञान की महत्ता नहीं दिखाई देती और जहाँ कहीं भी श्रद्धा होती है वहाँ प्रेम के योग्य प्रणय सौन्दर्य एवं माधुर्य रस का आस्वादन नहीं प्राप्त होता।

इसीलिये श्रद्धा ने होने के कारण प्रेमास्पद और प्रेम न होने के कारण श्रद्धास्पद सूने से प्रतीत होते हैं। इसका अनुभव कोई विवेकी पुरुष ही कर पाते है। केवल श्रद्धा होने पर लेने की योग्यता होती है परन्तु प्रेम न होने के

कारण अपना सब कुछ दे नहीं पाते और केवल प्रेम होने के कारण सब कुछ दे देते हैं लेकिन श्रद्धा की कमी के कारण उधर का सब कुछ ले नहीं पाते। जहाँ श्रद्धा और प्रेम दोनों समुचित रुप में होते हैं वहीं अपना सब कुछ देकर प्रेमास्पद प्रभु का सब कुछ लिया जाता है, यहाँ तक कि अपने को ही सर्वभावेन देकर प्रभु को ही प्राप्त कर लिया जाता है।

प्रेम की शक्ति से अपना सब कुछ देकर खाली होना है और श्रद्धा की दृष्टि से देखते हुए आराध्य प्रभु से, सब कुछ से अपने को भर लेना है; अर्थात पूर्ण से मिलकर पूर्ण हो जाना है। जो अपने को खाली नहीं कर सकता वह उधर की सम्पत्ति से अपने को भर नहीं सकता। जब अपने एक परमाधार प्रभु के प्रति श्रद्धा और प्रेम दोनों साथ-साथ विकसित होते हैं तभी पवित्रता, पूर्ण त्याग और यथार्थ ज्ञानपूर्वक योग सिद्ध होता है।

विश्वास से साधना का आरम्भ और प्रेम से साधना का अन्त

जब कभी मनुष्य कहीं से अपना परमलाभ एंवं परम कल्याण होने की बात सुनता है, उसी ओर पहिले जो आकर्षण का भाव होता है। इसी को विश्वास कहते हैं। यद्यपि विश्वास के पथ में प्रकाश नहीं है, फिर भी प्रत्येक साधक को यहीं से चलना होता है, हर एक पथिक प्रथम विश्वास के सहारे ही यात्रा आरम्भ करता है, अँधेरे में चलता है, ठोकर भी खाता है, गिरता है, कभी-कभी निराश भी होता है और रोता हुआ दुःखी होता है, किन्तु यदि लगन सच्ची रहती है तो फिर उठता है और धैर्य, सन्तोष एवं सहनशीलता के द्वारा पुनः गतिशील होता है। इस प्रकार चलते-चलते हरएक विश्वासमार्गी को ऐसा भी स्थान मिलता है, जहाँ भाव की आँखें खलती हैं और अन्तर्ज्योति के धूमिल प्रकाश में साधक पथिक अपने परमलक्ष्य की सुन्दर महत्ता को देखने लगता है- यहीं से श्रद्धा जागृत होती है। उपर्युक्त कथन का यही निष्कर्ष है कि महान् की महिमा को श्रवण करने से विश्वास होता है एवं महान् की महत्ता का दर्शन करने से श्रद्धा जागृत होती है और उसी महान् से मिलन होने पर उसका यथार्थ ज्ञान होता है। ज्ञान होने पर विश्वास का कार्य समाप्त हो जाता है, यहीं से परमार्थी पथिक की यात्रा प्रकाश में होने लगती है।

परमार्थी पथिक जब ज्ञानरुपी प्रकाश में यात्रा करता हैं तभी अपने

स्वरुप को देखता है, अपने आगे पथ तथा पथ की वस्तुओं को देखते हुए सावधानी से बच-बच कर चलता है और चलते हुए अपने गन्तव्य लक्ष्य पर निरन्तर दृष्टि रखता है। इस ज्ञानप्रकाश में ही साधक अपने जीवन के आसपास, भीतर बाहर जो कुछ भी दूषित, असत् वस्तु देखता है उसीका त्याग करता है, जितना दोषों, दुर्गुणों एंव असत् वस्तुओं का त्याग होता है उताना ही परमार्थी पथिक का जीवन निर्मल होता जाता है।

जीवन के निर्दोष और निर्मल होने पर ही श्रद्धाजनित ज्ञानानुसार प्रेम का समुचित सुन्दर विकास होता है। इस क्रम से हरएक पथिक विश्वास के मार्ग से श्रद्धा की दृष्टि द्वारा ज्ञान के प्रकाश में त्याग करते हुए प्रेम की अलौकिक शक्ति से परमाधार आनन्दमय प्रियतम को प्राप्त कर लेता है।

पूर्ण प्रेमी हुए बिना प्रेम का रहस्य समझ में नहीं आता। पूर्ण त्याग होने पर ही अन्तःकरण की शुद्धि होती है तभी प्रेमास्पद के सत्स्वरूप का ज्ञान होता है और विशुद्ध ज्ञान होने पर ही पूर्ण विशुद्ध प्रेम होता है। सन्त ने कहा भी है:-

जाने बिनु न होय परतीती। बिनु परतीत होत नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई। जिमि खगेश जल की चिकनाई।।

बहुधा अनेक व्यक्ति मोह को ही प्रेम मान लेते हैं, अपनी अंहगत कामनाओं, वासनाओं की पूर्ति में सुख मानते हुए सांसारिक पदार्थों के मोही बनते हैं। उन्हें जब वास्तविक सद्वस्तु का ज्ञान ही नहीं होता तब सत्य तत्व से प्रेम कैसा! इसी-लिये प्रेमी सन्तों के वचन है :-

'जिन नहिं समुझयो प्रेम यह, तिन सों कौन अलाप।
दादुर हू जल में रहे, जाने मीन मिलाप।।' (ध्रुवदास)
'मकर उरग दादुर कमठ, जल जीवन जल गेह।
तुलसी एकै मीन को, है साँचिलो स्नेह।।'

प्रेम सर्वोत्कृष्ट तत्व है। प्रेम में सर्वत्र देना ही देना है, प्रेम में पूर्ण तृप्ति है, पूर्ण त्याग है, पूर्ण उदारता है, पूर्ण निर्भयता है। जहाँ संसार का राग सत्यानुराग में परिवर्तित हो जाता है वही प्रेम है। सन्त-शब्दः-

'छिनहि चढ़ै छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।

अघट प्रेम पिंजर बसे, प्रेम कहावे सोय।।'
शास्त्रन पढ़ि पंडित भये, अरू मोलवी कुरान।
जु पै प्रेम जान्यो नहीं, काह कियो रसखान।।'
'हरि के सब आधीन है हरी प्रेम आघान।
याही ते हरि आपु ही, याहि बड़प्पन दीन।।'
मक्का मदिना द्धारिका, बद्री और केदार।
बिना प्रेम सब झूठ है, कहै मलूक विचार।।

विरहयोग

वपुरादिषुयोऽपि कोडपिवा, गुणातोऽसानि यथा तथाविधः।
तद्र्यं तव पादपद्मयोरहमद्येव मया समर्पितः।।

'हे प्रियतम परमात्मन्! शरीर आदि में स्थित 'मैं' जो कोई भी हूँ अथवा गुणों में जैसा भी हूँ वैसा ही मैं अपने आपको आपके चरणाकमलों में अर्पित करता हूँ।

विरही का साधनामय जीवन

विरह जगावे दरद को, दरद जगावे जीव।
जीव जगावें सुरति को, पन्च पुकारैं पीव।।

प्रेमी पुरूष अपने परम प्रेमास्पद के मिले बिना जब नहीं रह सकता, जब संसार में कहीं भी परमशान्ति नहीं मिलती दीखती तब प्रेमी के लिये प्रियतम प्रभु को पाने का 'विरहयोग' एक अनोखा साधन हो जाता हैं। विरही के लिये आसन, प्राणायाम, जप, तप और ध्यान आदि जितने भी साधन हैं सभी अनायास ही सुलभ हो जाते हैं, विरही में समयानुसार स्वतः ही यह सब बातें होती रहती हैं। सन्त-शब्दः-

मन माला, प्रभु नाम को, जपत रहत दिन रैन।
नैन पियासे दरस के, नेक न पावत चैन।।

विरही का सारा जीवन साधनामय बन जाता है। विरही अपने प्रियतम प्रभु के बिना कहीं भी चैन नहीं लेता, क्योकि सच्ची चाह कहीं भी चैन नहीं लेने देती। भगवान् के भक्त कहलाने वाले अनेक व्यक्तियों को देखिये तो पता चलता है कि भगवान् के पाने की कितनी सच्ची चाह है। जो भक्त कहीं थोड़ा सा धन मिल जाने पर, अथवा सांसारिक सुख-भोग और कुछ ऐश्वर्य वैभव प्राप्त होने पर चैन लेते दीखते हैं, और इन्हीं पदार्थो में आसक्त होकर, इन्हीं, की परिवृध्दि के लिये, इन्हीं सबकी रक्षा के लिये भय एवं लोभवश भगवान् का अवलम्ब चाहते हैं तब स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि यथार्थतः वे भगवान् के भक्त नहीं हैं बल्कि अपनी रूचिपूर्ति में मिलने वाले, माने हुए, सुख के भक्त

है। लेकिन सच्चे प्रेमी की विरहदशा निराली ही होती है। सन्त-शब्दः-

धन सो धन जिहिं विरह वियोगू। प्रियतम लागि तजै सुख भोगू।।

विरही में पूर्ण त्याग होता है। केवल प्रेमास्पद प्रभु के प्रति ही पूर्ण अनुराग होता है। विरही अपने लिये कुछ नहीं चाहता फिर भी प्रेमास्पद की प्राप्ति के लिये जिस कर्म की, जिस धर्म की, जिस स्थान की, जिस प्रकार के दान की, जिस जप की, जिस तप की और जिस ज्ञान की, ध्यान की आवश्यकता होती है उसे ही वह धारण करता है और जिसकी आवश्यकता नहीं होती, अथवा जितनी भी बातें प्रियतम प्रभु की प्राप्ति में बाधक दीखती हैं उन सभी का त्याग करता है।

कहीं भी चैन न लेना ही विरही की गति है, अपने दीनता, गुणहीनता पर रोना ही विरही का बल है, अपने प्रियतम की कथा वार्ता के अतिरिक्त कुछ भी न बोलना ही विरही का मौन है। इन्द्रियों के विषयों में कहीं भी रस न लेना ही विरही का तप है। अपने प्रेमास्पद के अतुल प्रभाव, गुण-सौन्दर्य और उनकी शाक्ति-महिमा को जानना ही विरही की बुद्धि में मुक्तिप्रद ज्ञान है, अपने परमप्रभु की सत्ता से ही समस्त विश्व को सत्तावान् देखना ही प्रेमास्पद का निरन्तर सुलभ ध्यान है।

विरह का दशा

विरही की हर एक क्रिया, प्रत्येक भाव, समस्त विचार एकमात्र अपने प्रियतम के लिये ही होते हैं। विरही की धारणा का प्रमाण देकर सन्त शिक्षा देते है कि-

जग से न्यारे है रहो, लगे रहो हरि ध्यान।
पृथ्वी पर देही रहे, परमेश्वर में प्रान।।

विरही के प्रत्येक श्वास में आकुलता की कसक रहती है। उसके प्राणों में तड़पन और हृदय की गति में उछलती हुई या कभी-कभी डूबती हुई सी धड़कन रहती है। उसकों शून्य में शब्द और शब्द में शून्यता प्रतीत होती है। विरही को जागृति में स्वप्न और स्वप्न में जागृति का सा भान रहता है। विरही की अदृश्य में दृष्टि और दृश्य में अदृष्टि रहती है। उसे जीवन में मृत्यु और मृत्यु में जीवन का आभास मिलता है। विरही को प्रत्यक्ष दृश्य जगत् में अन्धकार ओर अप्रत्यक्ष अंतर्जीवन में प्रकाश मिलता है। उसकी स्मृति में सब

कुछ की विस्मृति हो जाती है और भीतर बाहर केवल प्रियतम की ही स्मृति रह जाती हैं सन्त:शब्द-

'प्रीति जो लागी धुल गई, पैठि गई मन माहिं।
रोम रोम पिउ पिउ करै, मुख की श्रद्धा नाहिं।।'
'प्रेम छिपाये ना छिपे, जा घट परगट होय।
यद्यपि मुख बोले नहीं, नयन देत हैं रोय।।'

बिरही के रूदन में अन्तर्चेतना खिलकर हँस पड़ती है, और वाह्य हास्यालाप में अर्न्चेतना रो पड़ती है।

बिरही का एकान्त अनेकता के अन्त में है और अनेकता का अन्त-जोसत्य है- उस अनन्त में है। विरही की शान्ति तो पूर्ण विश्रान्ति में है और पूर्ण विश्रान्ति अपने प्रेमास्पद की कमनीय कान्ति में अर्थात् प्रियतम के सत् स्वरूप दर्शन में है।

प्रियतम की रूपरहित अलौकिक क्रान्ति को विरही की आँखें दृष्टि के बिना ही देखती हैं। उस प्रेमास्पद के स्वररहित शब्द को बिरही के श्रवण जगत् के सामने बधिर होकर सुनते है। उस प्रियतम के अंगरहित स्पर्श को विरही शून्यांग होकर ही अनुभव करता है और प्रियतम के श्वास-गतिरहित नित्य जीवन को विरही अपने भौतिक जीवन से ऊपर उठकर ही प्राप्त करता है। विरही को अपनी दशा का स्वयं कुछ भान नहीं रहता, वह तो प्रियतम प्रभु के सुमिरन, चिन्तन, ध्यान में निरन्तर तल्लीन रहता हें

कवि के शब्दों में विरही की दशा का बहुत स्पष्ट चित्र आ जाता है-

मुख पियरो सूखे अधर, आँखें खरी उदास।
आहें निकसें दुख भरी, गहरे लेत उसास।।
नयन अभागे जल रहे, सजल रहे दिन रात।
एक साथ दोनों भये, ग्रीषम और बरसात।।
पी पी करते दिन गया, रैन गई पिय ध्यान।
विरहिन के सहजै सधै, भक्ति योग अरू ज्ञान।।

विरही की दशा को तो कोई विरही हृदय ही जान सकता है। कहा भी है-

प्रसव पीर वन्ध्या क्या जाने, झलकत पर की पीरी।
घायल की गति घायल जाने, जाके होय लगी री।।

विरही के बाहर और भीतर की चेष्टा में बहुत अन्तर रहता है। उसके सुमिरन, चिन्तन और ध्यान की दशा निराली ही रहती हे क्योंकि उसे चिन्तन, ध्यान आदि करना नहीं पड़ता बल्कि माला मूर्ति और मन्दिर के बिना स्वतः ही उसके हृदय में सुमिरन ध्यान होता ही रहता है। किसी ने कहा भी है:-

जे जन विरही नाम के, तिनकी गति है येह।
देही से उद्यम करें, सुमिरन करै विदेह।।
ओठ कंठ हाले नहीं, जिह्वा नहीं उचार।
सहजै धुनि लागी रहे, प्रेम सहित आगार।।

विरही की अन्तर्वेदना किसी तरह नापी नहीं जा सकती । संसार की किसी भी वस्तु से उसकी व्यथा दूर नहीं हो सकती। तब विरही भला सांसारिक पदार्थो की ओर देखने की भूल कयों करेगा! इसीलिये तो विरही संसार से पूर्ण विरक्त और उदासीन रहता है। उसको अपने प्रेमास्पद के अतिरक्त कुछ नहीं सुहाता। किसी ने कहा है:-

जाप करै तो पीव का, ध्यान करै तो पीव।
जिव विरही की पीव है, पिव विरही का जीव।।

गीता में भगवान् कृष्ण ने अपने को सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा की दृष्टि से देखते हुए इस जीव को परा प्रकृति कहा है।

(गीता ७/५)

इस भाव से जीव-रूप परा प्रकृति के प्रेमास्पद एकमात्र पुरूषोत्तम परमात्मा ही हो सकते है। भूले हुए जीवन को जब अपने परम प्रभु के सत्य सम्बन्ध का ज्ञान होता है तभी जीवात्मा संसार से निराश होकर अपने सच्चे प्रियतम की प्राप्ति के लिये आतुर उत्कंठित, उल्लसित हृदय से केवल उन्हीं का स्मरण, चिन्तन करते हुए सब भूल सा जाता है। वह अपने परम प्रियतम के विरह में जितना ही आगे बढ़ता है उतना ही त्यागभाव से विशुद्ध होता जाता है, अन्त में ऐसे प्रेम के अनोखे सौन्दर्य से भूषित होता है कि प्रेमास्पद प्रभु स्वयं ही विरही की लीला देखकर मुग्ध हो जाते है। इधर विरहीं भी अपने गहरे चिन्तन-ध्यान की दशा में रहते-रहते सारे संसार को प्रभुमय बना लेता है और रहस्य की बात यह है कि प्रियतम को निजमय बना स्वयं प्रियतममय हो जाता है- यह है प्रेमी के विरहयोग की महिमा।

किसी भावुक प्रेमी ने प्रिया-प्रियतम की दशा का कितना सुन्दर वर्णन किया है-

दोउन को रूप गुन दोऊ वरनत फिरे,
घर न थिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधिकामय,
राधा मन मोहि मोहि मोहन मयी भयी।।

विरहयोग उत्कृष्टतम साधन है

सभी ओर से पूर्ण विरक्त बनाकर परम प्रेमास्पद परमात्मा से अनुरक्त करने की शाक्ति इसी विरहाकुलता में है। इस विरहा-कुलता का दुःख अग्निरूप होकर समस्त अहंता, ममता और पदार्थासक्ति रूपी दोष को जला देता हें विरहयोग सर्व-साधारण प्राणियों के लिये सुगम नहीं है।

सन्त-शब्दः-

विरह वाण जिहिंलागिया, औषधि लगे न ताहि।
सिसकि-सिसकि मरि-मरि जिये, उठै कराहि कराहि।।

परम प्रियतम के पथ में चलने वाले विरही के लिये अनेकों आदर्श प्रेमी सन्तों के स्वर्णवत् चमकते हुए तप-त्यागमय जीवन अपने अद्‌भुत चरित्र से प्रेम-विरहयोग का उपदेश दे रहे हैं। हर एक प्रेमी सन्त में अपने-अपने ढंग की निराली विरहा-कुलता की ही साधना अन्यान्य साधनों में ओतप्रोत मिलती है। सभी प्रेमी हृदयों से एक स्वर में यह सन्देश सुनाई देता है कि विरह सर्वोत्कृष्ट साधना है और आकुलता ही इस साधना का जीवन है। जहाँ विरहाकुलता न हो वहाँ जप, तप, व्रत अनेकों साधन भले ही साधे जायँ परन्तु वहाँ प्रेम नहीं कहा जा सकता।

आकुलतारहित साधना तो निष्प्राण साधना है, इसीलिये आकुल होकर रोने की कहीं-कहीं पर बहुत आवश्यकता समझी गई है। इसीलिये सन्त भी इसका समर्थन करते है।

’कविरा हँसना दूर कर, रोने से कर प्रीत।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मीत।।
हँस-हँस कन्त न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेले पिउ मिले, (तो) कौन दुहागिन होय।।’

'किसी को किसी तरह इज्जत है जग में।
हमें अपने रोने से ही आबरू है।'

विरही को तो निरन्तर आकुलता के स्वरों में, आकुल हृदय से विविध भाव एवं विविध नामों से एकमात्र परम प्रेमास्पद को ही ध्याते रहना है, जब तक कि उनका अभिन्न योग प्राप्त न हो जाय।

धन्य है वह प्रेम जो विरही जीव को प्रेमास्पद का योगी बना देता है! किसी प्रेमी ने प्रेम की महत्ता के साथ उस विरही को भी विशेष महत्व दिया है जो प्रेम के प्रखर तेज को धारण करता है। कहा है कि:-

अहमद चिनगी प्रेम की, सुनि महि गगन डराय।
धनि विरही और धनि हिया, जहँ वह आग समाय।।

ज्ञानी

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढ़ाः पद्मव्ययं तत्।।

'अहंकार और विवेक से रहित होकर जिन्होनें आसक्ति दोष को जीत लिया है, जो अध्यात्मज्ञान में सदा स्थिर हैं, जो निष्काम है और सुख-दुख आदि द्वन्द्वों से छूटे हुए है, ऐसे विवेकी ज्ञान पुरुष 'उस' अविनाशी पद को पहुँच जाते है।

ज्ञानी की पहिचान

वास्तव में ज्ञान या अज्ञान बुद्धि को होता है, उस बुद्धि के संगाभिमान के कारण जीवात्मा अपने को ज्ञानी या अज्ञानी कहता रहता है।

बुद्धि के संयोग से ही अहंभावनाका स्फुरण होता है, यही जीवात्मा का स्वरूप है। यह जीवात्मा अपनी बौद्धिक योग्यता को बढ़ाते हुए जब अपने सत्य चिन्मात्र स्वरूप को एवं जगत् और जगदाधार के रूप को वस्तुतः जान लेता है। तभी यह ज्ञानी पुरुष कहा जाता है। संसार में जो कोई सत् और असत् के रूप को भली प्रकार जानता है। वही यथार्थतः ज्ञानी पुरुष है।

सीमित के आदि मध्यान्त में ओतप्रोत जो असीम तत्व है, एवं परिवर्तनशील दृश्य-जगत् का आधार जो अपरिवर्तनशील तत्व है 'उसको' जाननेवाला ज्ञानी पुरुष है।

जगत् के विविध पदार्थो एवं सम्बन्धियों के साथ या अलग रहते हुए जो विरक्त है और जगदाधार तत्व से जो सदा अनुरक्त है वह ज्ञानी पुरूष है।

संसार के संयोग, वियोगजनित सुखों और दुःखों में जो सदा समस्थित, शान्त रहता है, जो प्रारब्ध-पथ में चलते हुए निरन्तर लक्ष्य पर ही दृष्टि रखता है और प्रारब्ध-पथ में आने तथा जानेवाली हर्ष-शोकात्मक घटनाओं में प्रभाव से उत्तेजित एवं विचलित नहीं होता है, वही ज्ञानी पुरूष है।

जगत्-प्रपंच से उदासीन रहकर जो असंग अन्तरात्मा का ही संगी होता है, जो सांसारिक पदार्थो से कहीं भी आकर्षित नहीं होता वह ज्ञानी पुरूष

है।

जिसे देह की मृत्यु का भय नहीं रह गया है, जो देह की मृत्यु होने के प्रथम ही अविनाशी जीवन से आत्मसात् होकर देह से विरक्त रहता है, वह ज्ञानी पुरुष है। ऐसा ज्ञानी पुरुष ही दूसरों को भी सावधान करता है-

सन्त-शब्दः- 'जीवित माटी है रहो, साँई सम्मुख होय।
दादू पहिले मरि रहूयो, पीछे मरे सब कोय।।'

जो सदा निर्द्वन्द्वहै, निर्भय है, जिसका चित्त सत्य चिन्मात्र स्वरूप में तन्मय है, जिसके अन्तःकरण में शोक मोहादि का स्थान नहीं रह गया है वही ज्ञानी पुरुष है।

जो निरर्थक बातों को नहीं सुनता, निरर्थक नहीं देखता, निरर्थक नहीं कहता और निरर्थक कर्मों को नहीं करता, जो संयम, नियम के अभ्यास से विचलित नहीं होता, वह ज्ञानी पुरुष है।

ज्ञानी का उपास्य देव

मानवी दृष्टि से जगत् में जो कुछ भी स्थूल या सूक्ष्म रूप दीखता है उसे सद्विवेक द्वारा निरसन करते-करते, घटाते-घटाते अन्त में जहाँ कुछ भी नहीं रह जाता वहीं पर परम तत्व का बोध होता है। जो सब कुछ का एकमात्र आधार है, वहीं ज्ञानी का उपास्य देव है। सब कुछ त्याग देने पर जो सबके पीछे शेष रहता है, जिसका त्याग किसी प्रकार हो ही नहीं सकता, जिसमें सब कुछ प्रकट होता है, जिसमें सब कुछ स्थित होता है और जिसमें सब कुछ विलीन हो जाता है, 'वही' ज्ञानी का उपास्य देव है। उस परमाधार, अचल, अविनाशी, नित्य तत्व को ही आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, प्रेमी,भक्त विविध नामों से पुकारते है और विविध रूपों की भावना द्वारा उसी एक को अनेक प्रकार से भजते है।

उसी एक परम तत्व को व्यक्ति की उपाधि में निर्विकार आत्मा रूप से देखते है, समष्टि की उपाधि में उसी को परमात्मा रूप से पहिचानते है, और सभी सीमाओं के परे अनन्त, असीम की दृष्टि से उसी को परब्रह्म कहते हैं वही चिन्मात्र स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही ज्ञानी का उपास्य देव है।

ज्ञानी पुरुष अपने उपासना के लिये अपने उपास्य देव की प्रतिष्ठा किसी बाह्य मन्दिर मूर्ति में नहीं करते। वे तो अपने उपास्य देव की उपासना के

लिये अपने में ही अपने आपके साथ बैठते हैं, अपने आपसे ही प्रेम करते हैं। ज्ञानी पुरूष देह में आत्मभाव और आत्मा में देहभाव मिश्रित नहीं करते क्योंकि वे यथार्थ में अपने को जानते हैं, अपने स्वरूप को जानकर ही अपने उपास्यदेव को अपने बाहर नहीं मानते ।

ज्ञानी की योगसाधना

जिसका न वियोग होता है न संयोग होता है, उस सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मारूप परमात्मा का अनुभव करना ही ज्ञानी की योगसाधना है। अपने सीमित अहंभाव को चिन्मात्ररूप आत्मा में तन्मय कर देना ही ज्ञानी की भक्ति है। चिन्मात्र स्वरूप आत्मा परमात्मा को ही परम प्रेमास्पद जानकर उसी के ध्यान में तल्लीन रहना ज्ञानी की उपासना एवं पूजा है। इसी प्रकार की पूजा भगवान् राम ने गुरू वशिष्ठ से समझी थी-

ध्यानमर्घ्ये च पाद्यं च शुद्धसंवेदनात्मकम्।
ध्यानसंवेदनं पुष्पं सर्वध्यानपरं विदुः।।

'शुद्ध संवेदनात्मक ध्यान ही इसके लिये अर्घ्य और पाद्य है, वही इसके लिये पुष्प है।'

इसी प्रकार उस अव्यक्त तत्व के व्यक्त विश्व रूप के अन्तर्गत रहने वाले प्राणियों से प्रेम करना ही ज्ञानी की ओर से होने वाली क्रियात्मक सेवा है। आनन्दघन प्रेमास्पद तत्व से अभेदानुभव होना ही ज्ञानी को प्राप्त होने वाला नित्य योग है।

तत्व ज्ञान के द्वारा कर्तृत्वाभिमान से रहित होना ज्ञानी के चित्त की उत्तम स्थिरता है। जब प्रज्ञा सत्स्वरूप में स्थित होती है, अर्थात् सत्स्वरूप चिन्तन के अतिरिक्त जब कोई अन्य चिन्ता नहीं रहती, जहाँ मानना और मनन करना नहीं रहता, ऐसी मन की संकल्प-रहित अवस्था ही ज्ञानी की उत्तम समाधि है।

जब ज्ञानी अपने तत्व ज्ञानरूपी प्रकाश का आश्रय लेकर समाधिस्थ रहने लगता है तभी अन्धकार के भूत की नाई समस्त भोगकामनायें, वासनायें और इच्छायें उसके पास नहीं फटकतीं, क्योंकि वे सब मन की प्रबल भ्रमपूर्ण कल्पना से उत्पन्न होकर अज्ञान के आधार पर ही जीवित हैं।

ज्ञानी अपने तत्व ज्ञानरूपी प्रकाश में अपने को स्पष्ट देखता है,

अपने परम लक्ष्य को भी प्रत्यक्ष देखता है और मध्य में पड़ने वाले संसार को भी देखता है इसीलिये वह किसी भी स्थिति में, स्थान में भ्रमित नहीं होता।

संसार में किसी की ओर देखना या किसी से कुछ आशा रखना ज्ञानी की दृष्टि में भयानक व्याधि है और यही व्याधि तथा उपाधि का मूल कारण है। इसीलिये ज्ञानी जगत्-दृश्य-दर्शन में रस नहीं लेता, जगत्-प्रपंच को नहीं सुनता,जगत् से कुछ भी नहीं चाहता; सभी कुछ परिवर्तनशील समझते हुए ज्ञानी राग-रहित होकर जगत् में विचरता रहता है।

ज्ञानी अपने साध्य तत्व के बीच से माया का आवरण हटा देता है, तभी उसके सामने मिथ्या आग्रह,संशय, विपर्यय आदि सभी अन्तराय निर्मूल हो जाते हैं। ज्ञानी अपने दोषों को नष्ट कर देता है, क्योंकि अपने चतुर्दिक बहुत कड़ी दृष्टि से वह देखता रहता है।

ज्ञानी की साधना में परावलम्बन नहीं होता, क्योंकि वह साध्य-प्राप्ति को अपने वश में रखता है। ज्ञानी की साधना अपने आप में ही होती है, अपने से बाहर वह कहीं नहीं झाँकता इसीलिए किसी के परतन्त्र नहीं होता, ज्ञानी सदा स्वतन्त्र साधक है।

ज्ञानी का व्यावहारिक जीवन

ज्ञानी पुरूष सत्य चिन्मात्र स्वरूप से नित्य संयुक्त है और देह के सम्बन्धविच्छेद के पहिले ही मुक्त है। ज्ञानी में देह और इन्द्रियों द्वारा होने वाली स्वाभाविक क्रियाओं में से कर्तृत्वाभिमान नहीं होता और वह किसी प्रकार की प्रवृत्ति द्वारा नवीन कर्मबीज नहीं बोता।

ज्ञानी पुरूष के प्रति जो कोई भी श्रद्धाभाव से प्रेम करता है वह अज्ञानी से ज्ञानी हो जाता है, सद्गुणसम्पन्न और निरभिमानी हो जाता है। ज्ञानी के संग से जानना आता है और मानना चला जाता है। क्योंकि ज्ञानी पुरूष माने हुए को जानता है, जाने हुए को पहिचानता है और पहिचाने हुए सत्य-तत्व को असत् के बीच से छानता है, अर्थात् अपने से अभिन्न सत्य-तत्व को जगत् से भिन्न करके विवेकदृष्टि से नित्यानन्द स्वरूप में अनुभव करता है।

ज्ञानी में अगाध गम्भीरता होती है, अचल धीरता होती है, सुदृढ़ नियम होता है, अटूट संयम होता है, मोह, मान माया का त्याग होता है तथा अटल सत्यानुराग होता है। यही ज्ञानी के आदर्श जीवन में सद्गुणों,सद्भावों एवं सद्ज्ञान का अनुपम सौन्दर्य है। ज्ञानी की सौन्दर्य शोभा वाह्य जगत् की ओर से प्रतीत होनेवाले किसी प्रकार के सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से न उदय होती है, न

अस्त होती है।

ज्ञानी पुरूष में प्रपंच से विरक्ति,तप की शक्ति,और प्रेम-रंजित भक्ति देखकर एवं ज्ञानी के सद्गुणों को सुनकर और ज्ञानी के सच्चरित्र अथवा सत्कृत्य का स्मरण कर प्रायः हृदयवान् मनुष्यों को सन्मति, सद्गति एवं शान्ति प्राप्त होती है।

ज्ञानी यथा-प्राप्त विपरीत परिस्थितियों में व्यग्र नहीं होता वरन् धैर्य एवं सहनशीलता का आश्रय लेकर कर्तव्य कर्मो को पूरा करता है। ज्ञानी अप्राप्त पदार्थो की इच्छा नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि हमें जो मिलना होगा वह अवश्य मिलेगा। इसी प्रकार जो प्राप्त है उसमें न तो आसक्त ही होता है, न विरोध करता है; क्योंकि ज्ञानी जानता है, कि यह हमारे भाग्य के हिस्से की वस्तु है, जो सदा नहीं रहेगी। ऐसी दृष्टि रखते हुए वह प्राप्त हुई वस्तुओं के यथार्थ रूप का ज्ञान प्राप्त करता है, साथ ही अनुकूलता तथा प्रतिकूलता में समस्थित रहता है।

ज्ञानी के पास से जो कुछ भी जाता है उसके लिये वह शोक नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि जाने वाली वस्तु को मेरे पास इतने ही दिन रहना था। ज्ञानी अपने भाग्य से सम्बन्ध रखनेवाली परिस्थितियों का दास नहीं बनता वरन् उनका स्वामी होता है। ज्ञानी भाग्यचक्र की धुरी पर स्थित होकर उसकी गति को देखता है; उसकी गति के साथ अपनी दुर्गति नहीं होने देता। ज्ञानी अपने ज्ञान प्रकाश में जीवन की भूलों को देखता है और उन्हें सुधारता जाता है।

ज्ञानी अपने भूतकाल को भूलता है, वर्तमान को सँभालता है और भविष्य को वर्तमान के द्वारा ही सुन्दर रूप में गढ़ता है। इस प्रकार से ज्ञानी ही दिव्य जीवन प्राप्त करते हुए परम प्रेम के द्वारा परम शान्ति का भोक्ता होता है।

ज्ञानी और अज्ञानी का अन्तर

जहाँ अज्ञानी वयोवृद्ध होकर भी भाववृत्ति में बालक की भाँति अचल मतिवाला होता है वहाँ ज्ञानी आयु से बालक होते हुए भी भाव-वृत्ति में वृद्ध की भाँति स्थिर मति वाला होता है। अज्ञानी दरिद्र होता है, शक्तिहीन रहता है और ज्ञानी परम उदार एवं वास्तविक शक्ति से सम्पन्न होता है ।

अज्ञानी जगत्-प्रपंच का संगी होता है, इसी से दोषयुक्त रहता है,

और ज्ञानी सभी से उपराम होने के कारण असंग स्थिति प्राप्त करता है, इसी से दोषों से मुक्त होता है, अज्ञानी अपने सम्बन्धियों के मर जाने पर भी सम्बन्ध जीवित रखता है, इसी लिए सम्बन्ध उसे रुलाता रहता है, क्योंकि वह सम्बन्धा-सक्त है; लेकिन ज्ञानी सांसारिक सम्बन्धियों के रहते हुए भी सम्बन्ध को मिटा देता है, इसी से वह सम्बन्धियों के मर जाने पर शोक नहीं करता, क्योंकि वह विरक्त रहता है।

ज्ञानी उन सभी पदार्थों के प्रति रहनेवाली आसक्ति ममता का पहिले ही त्याग कर देता है जो पदार्थ आगे कभी छूट जाने वाले है, लेकिन आज्ञानी पदार्थो के छूट जाने पर भी ममत्व बनाये रहता है और दुख भोगता है। अज्ञानी आसक्ति के कारण जीवन में परतन्त्र रहता है और ज्ञानी विरक्त होने के कारण सदा स्वतन्त्र रहता है। अज्ञानी के अनेकों लक्ष्य होते हैं, लेकिन ज्ञानी का एक ही लक्ष्य होता है। एक अज्ञानी के करोड़ों अभिप्राय हैं और दूसरी ओर देखिये तो करोड़ों ज्ञानियों का एक ही अभिप्राय है ऐसी किसी सन्त का कथन है।

ज्ञानी पुरूष सच्ची साध्वी प्रेमिका की तरह केवल एक परम प्रेमास्पद को ही देखता है, उस एक से ही प्रेम करता है, और अज्ञानी वेश्या की तरह अनेकों को देखता है, अनेकों से प्रेम करता है। जगत् को देखना ही अनेक को देखना है, अनेक से प्रेम करना है और जगदाधार परम तत्व का जानना ही एक को देखना है, एक से ही प्रेम करना है। अज्ञानी जगत् को देखता है, जगत् की अनेकता में भूलता है और ज्ञानी जगदाधार एक सत्य को देखता है, उसी परमानन्द स्वरूप सत्य में स्थिर हो रहता है।

अज्ञानी एकाध शुभ कर्मो के बन जाने पर अनेक प्रकार के फलों की कामना करता है और ज्ञानी अनेकानेक शुभ कर्मो को करते हुए एक ही फल चाहता है। ज्ञानी की दृष्टि में जिस कर्म के अनेक फल हों वह बन्धनकारी कर्म है, जो संसार से बाँधता है। इसीलिये ज्ञानी वही कर्म करता है, जिससे मुक्तिरूपी एक ही फल प्राप्त हो।

अज्ञानी में तप ,व्रत, जपादि साधनों से अहंकार की वृद्धिहोती है और ज्ञानी में इन शुभ कर्मो से सद्गुण विकास एवं सत्स्वरूप में स्थिति है।

अज्ञानी अविचारवश विविध फलों की आशा से सकाम कर्म करते हुए अनेकानेक बन्धन बढ़ाता रहता है, लेकिन ज्ञानी विवेक-दृष्टि से निष्काम होकर कर्मबन्धनों से अपने को बचाता रहता है। अज्ञानी में विविध विषयों के

द्वारा प्राप्त होने वाले सुखों के प्रति रागवश दुर्गुण पोषित होते रहते है और ज्ञानी में विषय-विराग होने के कारण अन्तरात्मा के सद्गुण प्रकट होते रहते है।

अज्ञानी की दृष्टि जगत् के नामरूपों में ही रहती है। और ज्ञानी की विवेकदृष्टि नामरूपातीत जगदाधार में रहती है। अज्ञानी सांसरिक सुखों के लोभवश रागी होता है और ज्ञानी परमार्थ की सिद्धि के लिये त्यागी होता है। अज्ञानी असत् को ही सत् मानता है और ज्ञानी असत् में सत् को जानता है। अज्ञानी अपने में असत् की स्थापना करता है और स्वयं असत्मय हो जाता है। परन्तु ज्ञानी अपने में से असत् पदार्थो को निकाल देता है ओर अपने को असत् पदार्थो में से निकाल लेता है।

अमुक पदार्थ अथवा अमुक सम्बन्धी मेरे हैं, ऐसा मानना ही असत् पदार्थो को अपने में रख लेना है, इसी प्रकार देह, मन, बुद्धि आदि के संग से मैं अमुक जाति, वर्ण का, दुखी, सुखी, मूर्ख या विद्वान् हूँ-ऐसा मानना ही अपने को उन पदार्थो में रख देना है, यही अज्ञानी की भूल है। अमुक पदार्थ यह सम्बन्धी मेरे नहीं है, इनसे माना हुआ सम्बन्ध है- ऐसा अनुभव करना ही उन पदार्थो को अपने में से निकाल देना है , और देहादिक पदार्थ अथवा मन यह बुद्धिके संयोग से मैं दुखी, सुखी, मुर्ख या विद्वान नहीं-ऐसा देखना ही अपने को इन पदार्थो से निकाल लेना है- यही ज्ञानी का यथार्थ ज्ञान है।

अज्ञानी अपने में दोष रखता है; इसीलिये उसे सर्वत्र दोषी ही दिखते हैं और ज्ञानी अपने में से दोषों को निकाल देता है, इसीलिये उसे कहीं भी दोषी नहीं दिखते। अज्ञानी अपने को दोषियों के बीच में रखता है, इसीलिये उसमें दोष आ जाते हैं, और ज्ञानी अपने को दोषियों के बीच से निकाल लेता है; इस कारण उसमें दोष नहीं रह जाते ।

अज्ञानी अपने अज्ञान के कारण बन्धन में पड़ता है और ज्ञानी अपन यथार्थ ज्ञान के कारण मुक्त हो जाता है। वासना में आसक्त मनुष्य अज्ञानी है, और वासना से विरक्त ज्ञानी है। अज्ञानी परतन्त्र होकर संसार में भटकता है और ज्ञानी स्वतन्त्र होकर संसार में आनन्दपूर्वक विचरता रहता है।

ज्ञानी संत के संग की महत्ता

परोपकारकारिण्या परार्त्तिपरितप्तया।
बुद्ध एव सुखी मन्ये स्वात्मशीतलया धिया।।

'मैं तो समझता हूँ वही तत्वज्ञानी परम सुखी है जिसकी शीतल बुद्धि परोपकार में रत है, जो पराये दुःख से पीड़ित है और जिसकी इन्द्रियाँ वश में होने से चित्त शान्त है।'

संसार में ज्ञानी सत्पुरूष और सत्य ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है। ज्ञानी पुरूष के संग से सद्ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञानी सद्गुरू का संग जब तक सुलभ न हो तब तक करोड़ों वर्ष बीत जायँ फिर भी परमशान्ति का मार्ग नहीं मिलता। ज्ञानी सत्पुरूष जिज्ञासु के मन से नाना प्रकार के संशयों को मत-मतान्तरों के भेदभाव को मिटा देते हैं, मिथ्या आग्रह से छुड़ा देते हैं, स्वेच्छाचारिता एवं असत् देहाभिमानादि दोषों को हटा देते है, और सत्यानन्दस्वरूप से मिला देते है ज्ञानी सन्त पुरूष के संग से ही अज्ञान का नाश होता है, ज्ञान का प्रकाश होता है, सद्गुणों एवं सद्भावों की जागृति होती है और सन्मार्ग में प्रगति होती है। ज्ञानी सत्पुरूष के संग से ही दुःखमय बन्धनों से छूटने की युक्ति मिलती है और परमानन्द-प्रदायिनी मुक्ति मिलती है।

बुद्धिमान् मनुष्यों ! आप अपने माने हुए ज्ञान का गर्व छोड़कर ज्ञानी सत्पुरूष का संग कीजिए। विचार-दृष्टि से देखिये, जिन्होंने नश्वर देह का कहीं भी भरोसा न करके सदा परम पुरूषार्थ का ही आश्रय लिया है, जो विषयविष से व्याप्त जगत में सत्य ज्ञानामृत पीकर विषम परिस्थितयों के मध्य से निकलते हुए भी सदा शाान्त एवं स्वस्थ रहते हैं, ऐसे ज्ञानवान् महापुरूषों के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त कीजिए। सन्त-शब्दः-

पर मन, पर धन हरन में, वेश्या बड़ी प्रवीन।
तुलसी सोई चतुर है, सन्त चरन लवलीन।।

वास्तव में ज्ञानी सन्त की भक्ति से परमात्मा की भक्ति परिपूर्ण होती है, क्षुद्र अहं भावना चूर्ण होती है, जगत्-प्रपंच से एवं विषय राग से उपरति होती है, तथा सत्यानुराग के पथमें परमगति होती है।

ज्ञानी सन्त सत्पुरूष का संग न मिलने के कारण एक तो स्वयं ज्ञानी होने का अभिमान होता है, सांसारिक सुखों का ही सदा ध्यान रहता है, निरन्तर मिथ्या प्रपंच का ही गान होता है, और अपनी उन्नति एवं सुख शान्ति का केवल अनुमान होता है, क्योंकि जब यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब विषयों में अज्ञान ही प्रधान रहता है।

शास्त्र में भी जितनी बातें कही गई हैं वे सभी परोक्ष शिक्षाएं हैं, और

मनुष्य को अधिकारी होने के लिए कही गई हैं, परम शान्ति तथा मोक्ष-लाभ के लिए तो ज्ञानी सत्पुरुष की प्रत्यक्ष आज्ञा का आराधन होना चाहिए। जीवन में पवित्रता, प्रेम, अनुकम्पा, सुशीलता, धैर्य,सहनशीलता, विनम्रता एवं निःस्वार्थता का स्थिर स्वभाव बन जाना ही ज्ञानी का ज्ञान प्रकाशित होना है।

ज्ञानवानेव सुखवान् ज्ञानवानेव जीवति।
ज्ञानवानेव बलवांस्तर माज्ज्ञानमयो भव।।

(योगवासिष्ठ ५/६२/४६)

'ज्ञानी ही सुखी है, ज्ञानी ही बलवान् होता है, ज्ञानी ही जीता है, इसलिए ज्ञानी की स्थिति प्राप्त करो।'

प्रेमास्पद और प्रेमी

प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नामस्मरतां नृणाम्।
सद्यो नश्यति पापौघो नमस्तस्मै चिदात्मने।।

'मृत्यु के समय अथवा जीवित अवस्था में जिनके नाम का स्मरण करने से मनुष्यों के पापपुंज तुरन्त नष्ट हो जाते हैं उन सच्चिदानन्द परमात्मन् को हम प्रणाम करते हैं।'

प्रेमास्पद का स्वरूप

चेत्यानुपातरहितं सामानयेन च सर्वगम्।
यच्चित्ततत्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः।।

'सामान्य रूप से सब जगह रहने वाला चेत्यता स्फुरणारहित,अवर्णनीय चित तत्व ही (प्रेमास्पद) परमात्मा, परमेश्वर है।'

य एष देवः कथितो नैष दूरेअवितष्ठते।
शरीरे संस्थितो नित्यं चिन्मात्रमिति विश्रुतः।। (योग वा०)

वह परमदेव कहीं दूर नही है किन्तु चिन्मात्ररूप से शरीर के भीतर ही सदा रहता है (वही प्रेमास्पद प्रभु है)'यहाँ शंका होती है कि प्रेमास्पद के चिन्मात्रस्वरूप को सभी प्राणी क्यों नहीं जानते।

उसका समाधान महर्षि वशिष्ठजी के शब्दो में इस प्रकार हैः-

यावत्सव न संत्यक्त तावदात्मा न लभ्यते।
सर्वाचस्थापरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते।।

'सब वस्तुओं का जब तक त्याग नहीं किया जाता तब(परम प्रेमास्पद) आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। सभी अवस्थाओं का (संगाभिमान) त्याग करने पर जो शेष रहता है वही(परम प्रेमास्पदं) आत्मा है।'

प्रेमास्पद की उपासना

आराधयात्मानात्मानं आत्मनात्मानर्चयेत्।

आत्मनात्मानलोक्य संतिष्ट स्वात्मनात्मनि।।

'आत्मा की ही पूजा करो, आत्मा की ही आराधना करो, आत्मा का ही दर्शन करके आत्मा में स्थित रहो' (यो०५/४३/१६)

बोधः साम्यं शम इति पुष्पारायग्रणि तत्र च।
शिवं चिन्मात्रममलं पूज्यंविदा विदुः।।

'जो लोग उपासना का रहस्य जानते है उनका कथन है कि विशुद्धचिन्मात्र शिव ही उपासना के योग्य है और बोध, समता और शान्ति ही उस आराध्य देव की अचर्ना के लिये उत्तम फूल हैं।'

प्रेमास्पद से ही परम शांति

यद्यपि यह परम प्रेमास्पद, चिन्मात्ररूप आत्मा, सबमें, सर्वत्र ओतप्रोत है, फिर भी यथार्थ ज्ञान न होने के कारण मनुष्य अपनी अपनी भावनावश उन पदार्थो में ,जो अपने नहीं है -संयोग-वियोग की सीमा में सुखी-दुखी हुआ करते हैं।

वास्तव में प्रेमी अज्ञानवश भले ही अपने प्रेमास्पद की अभिन्न नित्य-उपस्थिति का अनुभव न कर सकें लेकिन किसी क्षण भी अपने प्रेमास्पद से भिन्न नहीं हो सकता। इस प्रेमास्पद से ऐसा नित्य योग है जो संयोग वियोग की सीमा से परे है। सब कुछ त्यागा जाने पर भी इसका त्याग नहीं हो सकता; लेकिन इस रहस्य को सभी प्राणी नहीं जानते, केवल यथार्थज्ञानी, तत्वदर्शी पुरुष ही समझते है।

यह प्रेमास्पद आत्मा नित्य है, परमानन्दस्वरूप है, इसीलिये इस परम प्रेममय प्रभु के योगानुभव बिना नित्य जीवन एवं परमानन्द तथा परम शान्ति की प्राप्ति अन्यत्र कहीं से हो ही नहीं सकती।

संसार में अज्ञानवश मनुष्य विविध पदार्थो से, विविध सम्बन्धियों से और नाना प्रकार के ऐश्वर्य-वैभव से परमाननद की प्राप्ति के लिए प्रेम करते है, किन्तु सच्चे प्रेमास्पद को न जानते हुए सभी ओर से अतृप्त ही रहते हैं।

अपने सच्चे प्रेमास्पद को न जानकर ही अज्ञानी मानव अपने को पदार्थो को परम शान्ति की आशा से प्रेमपात्र बनाते फिरते हैं। अपने एक परमाधार की महिमा को न समझकर ही अनेकों पदार्थों का महत्व गाते हुए

अनेको की ओर आकर्षित होते है। जो परमाराध्य अनन्त ऐश्वर्य, माधुर्य से पूर्ण 'एकमेवाद्विितीयम्' हैं उनकी शरणापन्न न होकर ही 'मानव ' अनेक की शरण लेते रहते हैं।

जिन्हें सद्गुरुदेव की समीपता में प्रेमास्पद के चिन्मात्र रूप का ज्ञानानुभव हो जाता है, उन्हें संसारकी अनेकता भ्रान्त नहीं कर सकती। वे पूर्ण प्रेमी नित्य योग का आनन्दलाभ करते हैं, इसके अतिरिक्त वे किसी भी प्रकार की आकांक्षा नहीं रखते। सच्चे प्रेमी के सामने परम प्रेमास्पद का पूर्ण योगानुभव कर लेना ही एकमात्र लक्ष्य है; और इस परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये प्रेमयोग ही निश्चिततम उपाय हैं।

प्रेमयोग की सिद्धि कैसे होती है

जिस ज्ञानी ने स्वार्थ से कसी हुई संचित वासनाओ, कामनाओं और अतृप्त इच्छाओं का बोझा अपने ऊपर से सदा के लिये फेंक दिया है, उसी को प्रेमयोग की सिद्धि हो सकती है।

वास्तव में परम प्रेमास्पद को पाने के लिये जिस पावन प्रेम की आवश्यकता है उसकी ज्योति विज्ञानमय क्षेत्र से नीचे उतरते ही प्रकृति के जड़त्व में अन्तर्धान हो जाती है। इसीलिए, प्रेमयोग के साधक को अपने भौतिक जीवन से ऊपर उठना होगा और सद्विवेक के सहारे प्रकृति में दृढ़ीभूत अपनी मनोनिर्मित सीमाओं से अहं भाव को मुक्त करते हुए अन्नमय, प्राणमय और मनोमय आदि क्षेत्रों की अपने ऊपर लादी हुई उपाधियों को त्यागना होगा।

विवेकदृष्टि से देखने पर अन्तर्जीवन रहस्य स्पष्ट दिखाई देता है। वह यह स्थूल देह की आसक्ति ही जीव को स्थूल देह से बाँधे हुए है। और आगे देखने पर वासनात्मक क्षेत्र की विविध कामनायें और सुख-भोग की लिप्सायें अपनी पूर्ति के लिए मन को पकड़े हुए हैं, अर्थात् यह सब मन में भरी हुई हैं; इन्हीं कामनाओं के पथ से उन पदार्थो से सम्बन्ध स्थापित होता है जिनसे कि सुखप्राप्ति की आशा है। प्राणी को कामनाओं के अनुरूप ही स्थान एवं वैसे ही सम्बन्ध प्रिय लगते हैं, उन्हीं में आसक्त होकर वह अनिश्चित समय तक स्वरचित सृष्टि में सुख मानते हुए बद्ध रहता है। इसीलिए यह जीव परम प्रेमास्पद की प्राप्ति के लिए उस प्रेमयोग का अधिकारी नहीं हो पाता जो

विज्ञानमय भूमिका में पहुँचने पर ही सुलभ हो सकता है। ये कामनायें प्रेमी को बेड़ी बन कर रोकती हैं, अतः हर प्रकार की कामानाओं से बचते रहने के लिये, बल्कि सर्वथा मुक्त होने के लिए इनकी पूर्ति का अवसर न दिया जाये और जहां से कामनाओं की पूर्ति होती हो वहाँ से दूर ही रहा जाय। इतना कर लेने पर पुनः इनकी जड़ नष्ट करने के लिये मन में भोगकामनाओं का विचार तक न आने दिया जाये; तभी इनसे छुटकारा होता है।

जो लोग सांसारिक सुख-भोग प्रसंग से दूर रहकर मन से सुख-भोग विषयक विचारों का मनन करतें, ऐसे व्यक्तियों का मन निस्सन्देह विचार-पथ से पुनः वही सम्बन्ध जोड़ लेता है, और अनायास ही कामनायें जीव को अपने भोगस्थल में गिरा देती है।

यह ध्यान रखने की बात है कि विविध विषय-भोगों में इन्द्रियों की स्थूल प्रवृत्ति पहले सूक्ष्म विचार द्वारा मन में जागृत होती है। जो कोई इस आरम्भ का ही विरोध करेगा वही विषय-विकारों पर शीघ्र विजय प्राप्त कर सकेगा।

प्रेमयोग की सिद्धिके लिए कामनाओं का क्षेत्र पार करते ही आगे मनस् क्षेत्र आता है। वहाँ मनोमय शक्ति के द्वारा इच्छित भावों की सृष्टि रहती है। मानवी अहं यहाँ भी अपनी सीमा बनाकर काल्पनिक मनोराज्य में रस लेते हुए जीवन व्यतीत करता रहता है; लेकिन इसी स्थान से मनोमय क्षेत्र में सद्भावों की शान्तिदायी सीमा मिल जाती है। यहाँ पहुँचते ही प्रेम का दिव्य आकर्षण प्रतीत होने लगता है, उसी के सहारे जब कभी यह अहं सद्भावों की सीमा से प्राप्त होने वाली शान्तिमय शक्ति को लेकर विज्ञान की सीमा में पहुँच जाता है तभी इसे ज्ञानालोक की विमल किरणें दिखाई देती हैं और उन्हीं के प्रकाश में यह अपने जड़त्व से आबद्ध जीवन की कुरूपता को देख पाता है। यहीं पर यह अहंरूपी पथिक अपनी वास्तविक दशा को एवं अपने आगे के प्रकाशपूर्ण पथ को और पीछे की अन्धकारयुक्त यात्रा को देख पाता है। इसी स्थान में पहुँच कर यह जीव सावधान हो जाता है और अपनी समस्त ऐहिक उपाधियों, वासनाओं, कामनाओं, इच्छाओं और धारणाओं को तिलांजलि देकर ज्ञान के सहारे प्रेमास्पद प्रभु की ओर दौड़ पड़ता है। यहाँ पर प्रेमी पथिक को पता चलता है कि विविध कामनाओं और इच्छाओं की पूर्ति में सुख मानते हुए तन, मन और प्राणों का जहाँ तक आंशिक समर्पण है वहाँ तक

विशुद्धप्रेम की सीमा नहीं मिलती है। क्योंकि वहाँ तो निम्न क्षेत्रों के सुख से तृप्त होने के लिये मोहजनित तृष्णा है। प्रेम तो विज्ञानमय क्षेत्र से नीचे उतरते ही जड़त्व की परिधि में ही अन्तर्धान हो जाता है, तब तक कोई प्राणमय अथवा मनोमय क्षेत्रों में पूर्ण प्रेम का दर्शन कैसे कर सकता है?अतः प्रेमयोग की सिद्धि के लिये इन निम्न क्षेत्रों से ऊपर उठना ही होगा ।

प्रेमास्पद के पूर्णयोग में प्रेमी की सीमित अहं भावना बहुत दूर तक बाधक रहा करती है। इसीलिये अपने क्षुद्र अहंकार को मिटाने के लिये तरह-तरह की युक्तियाँ प्रेमी सन्तों ने बताई हैं। कहीं निष्काम कर्मयोग के द्वारा, कहीं भक्तिभाव को लेकर समर्पण योग के द्वारा और कहीं सदसद्विवेक दृष्टि को लेकर ज्ञानयोग के द्वारा सीमित अहं को असीम में तन्मय कर देने की सम्मति दी है। ध्यान रखना चाहिये किः-

अपनी खुदी ही परदा है दीदार के लिये।
वरना कोई नकाब नहीं यार के लिये।।
'वे खुदा छा जाय ऐसी दिल से मिट जाये खुदी।
उनके मिलने का तरीका अपने खो जाने में है।।'

जैसी दृष्टि वैसा दर्शन

स्थूल पदार्थों को स्थूल दृष्टि से देखा जाता है लेकिन सूक्ष्म तत्व को देखने के लिये तो सूक्ष्म दृष्टि होनी चाहिये। जब तक मनुष्य में अन्तर्दृष्टि नही खुलती तब तक अन्तर्निहित सद्वस्तु का बोध नहीं होता । इसीलिये किसी ने कहा हैः-

कौन सी जा है जहाँ जल्वए माशूक नहीं।
शौक दीदार का गर है तो नजर पैदा कर।।

प्रेमी की जब अन्तर्दृष्टि खुलती है तभी अपने प्रेमास्पद का सर्वमय देखने लगता है। सन्त तुलसीदास जी इसी प्रकार की दृष्टि देखते हुए कहते हैः-

सियाराममय सब जग जानी।
करहुँ प्रनाम जोरि युग पानी।।

सन्त कबीर साहब भी अपनी दिव्य दृष्टि से देखते हुए गा उठते हैं-

दूर दीवार दरपन भया, जित देखहुँ तित तोहिं।
कंकण पत्थर ठीकरी, भई आरसी मोंहि।।

इसी प्रकार स्वामी रामतीर्थ जी महाराज अपनी दृष्टि की मस्ती में मस्त होकर कहते है--

जमाना आईना राम का है हर एक सूरत से है वह पैदा।
जो चश्म हकवीं खुली तो देखा कि राम मुझमें मैं राम में हूँ।।

वास्तव में जिनकी विवेक दृष्टि खुल जाती है उन्हीं को सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का बोध होता है। कोई जाने या न जाने परन्तु सभी का सच्चा प्रेमास्पद यही परम तत्व हैं जिससे मिले बिना किसी को कहीं भी परम शान्ति नहीं मिल सकती। यदि भ्रमवश कोई चैन मानता भी है तो इसी आनन्द स्वरूप की किंचित झलक देखते हुए ही मानता है। इस आनन्द की जहाँ कहीं भी झलक दिख पड़ती है, या जहाँ कहीं भी इसकी प्राप्ति का सन्देश सुनाई देता है, उधर ही मनुष्य दौड़ पड़ता है, उसी पदार्थ को प्राप्त करता है, उसी से मिलता है, या प्रतीक्षा में न जाने कब तक आनन्दयोग की आशा लगाये घूमता रहता है।

प्रेमी मानव अन्य कुछ भी नहीं चाहता केवल आनन्द चाहता है, और आनन्द ही तो प्रियतम का स्वरूप है। इसी को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक प्राणी उत्सुक है, इसी के वियोग में व्यथित है, चतुर्दिक इसी की आभा से आकर्षित है और अनेक प्रकार से जगत् के विविध पदार्थो में एवं अनेक सम्बन्धियों में एकमात्र आनन्दघन प्रेमास्पद को ही यह खोज रहा है; किन्तु अज्ञानवश उसका सच्चा पता नहीं पाता, सन्मार्ग नहीं मिलता और भ्रमित होकर उस एक प्रेमास्पद के सत्स्वरूप को न पहिचान कर अनेक पदार्थो में प्रियतम की भावना करता रहता है। ऐसे ही जीव के लिये सन्तने कहा हैः-

लख चौरासी योनि में बहुते कीन्हे पीव।
एक पीव जाने बिना, भटक फिरा यह जीव।।

ऐसी दशा में भटकते हुए जीव को प्रेमास्पद प्रभु का मार्ग दिखाने वाले, उनसे मिलाने वाले एक मात्र सन्त सद्गुरुदेव ही है। उन्हीं कि शरण लेने से प्रेम योग के द्वारा प्रेमास्पद प्रभु की प्राप्ति होती है।

प्रेमी की प्रगति का क्रम

अपने आनन्दघन प्रेमास्पद की चाह में चिंतित रहने वाले प्रेमी जिस क्षेत्र से जैसा संग करते है उस क्षेत्र में वैसा ही प्रभाव पड़ता है। बुध्दि क्षेत्र में संघ का प्रभाव ज्ञान के रूप में दिखाई देता है। जैसा ज्ञान होता है उसी प्रकार के भाव मन में उत्पन्न होते है, जैसे भाव होते है इन्द्रियों द्वारा उसी के अनुसार कर्म होते है और तद्नुरुप ही फलों की प्राप्ति होती है।

अपने प्रेमास्पद प्रभु के प्रेमपथ में चलने वाले बुद्धिमान पथिक सबसे पहिले कुसंग से बचकर सन्त-सद्गुरु के सत्यसंग द्वारा सत् असत् का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते है, तद्नुसार असद्भावों का त्याग करते हुए केवल सद्भावों को ही मन में स्थान देते है और अपनी देह तथा इन्द्रियों द्वारा कहीं भी असुभ कर्म न होने देकर केवल शुभ कर्म करते हुए पुण्य फल के धनी होते है। ऐसा होने पर सच्चे प्रेमी अपने संचित पुण्यों के द्वारा सांसारिक सुख-भोग नहीं चाहते, वे तो भोगों से विरक्त रहकर सांसारिक सुखों की सीमा को तीव्र पुरूषार्थ के द्वारा शीघ्रता से पार करते हुए सद्ज्ञान के प्रकाश में परम प्रेमास्पद की ओर बढ़ते जाते है और परम् के द्वारा उन्हीं से मिलते हुए परम् शान्ति से पूर्ण तृप्त होते है।

प्रेमी की दृष्टि से साधना का स्वरूप

अपने प्रियतम प्रभु की ओर बढ़ने के लिए त्याग ही राजमार्ग है। उन्हे पाने के लिए पूर्ण समर्पण सर्वोत्तम युक्ति है।

सर्वत्र उन्ही की महिमा को देखना, उन्हीं की सत्ता का सर्वत्र अनुभव करना ही कभी न भूलने वाला सुमिरन, चिंतन और ध्यान है। उनके योग-लाभ के लिये उत्कण्ठित, उल्लसित भाव से सतत सावधान रहना प्रेमी का कर्तव्य है। सबमें प्रियतम परमात्मा की व्याप्ति अनुभव करते हुए परम प्रभु के विश्वरूप के प्रति नमनशीलता और पूज्य-भावनायुक्त व्यवहार-प्रेमी की प्रेमास्पद के प्रति-उपासना है। अपनी समस्त कामनाओं, इच्छाओं और आवश्यकताओं को प्रेमास्पद प्रभु के आगे अर्पण करना ही प्रार्थना है।

प्रियतम परमात्मा को कमी, कहीं भी अपने से भिन्न समझना ही भक्ति है और परमोत्कृष्ट विशुद्ध प्रेम ही प्रेमी का परम प्रेमास्पद प्रभु है, तभी प्रेमी से प्रियतम अभिन्न है। परमानन्द की अनुभूति ही प्रेमास्पद प्रभु का साक्षात्कार

है।

किसी प्रेमी को अपना प्रेमास्पद तभी भिन्न प्रतीत होता है जब प्रेमस्वरूप में किसी प्रकार की रूपमय भावना हो जाती है। यह भावना प्रेमी के हृदय से उत्पन्न होती है, तभी प्रेमी प्रेमस्वरूप प्रियतम को रूपमय भावनानुसार अपने को भिन्न देखते हुए तृप्त होता है। प्रेमी की साधना का साध्यमय हो जाना ही साधन की पूर्ण सफलता है।

प्रेमास्पद से कुछ भी न चाहना शुद्ध प्रेम है

प्रेमी अपने प्रेमास्पद के प्रति प्रेम करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता। प्रेम के बदले कुछ चाहना तो बनिज व्यापार है। सच्चा प्रेमी तो सदा अपने अधिकारगत वस्तु को देना ही जानता है। वह प्रेमास्पद के प्रेम में इतना छका रहता है कि उसके मन में सांसारिक सुखों की चाह ही नहीं रहती । उसका मन प्रियतम प्रभु के स्मरण में इतना अधिक लीन रहता है कि जिसके प्रभाव से उसमें अनायास ही विश्वसुखों का विस्मरण हो जाता है।

प्रेमी किसी भी वस्तु की, किसी सम्बन्धी की, किसी धर्म की और अपनी देह की भी वहीं तक परवाह करता है, जहाँ तक यह सब प्रेमास्पद प्रभु के प्रेमपथ में सहायक हो। लेकिन जिस किसी को प्रेमी अपने लक्ष्यपथ में बाधक देखता है, उसी का वह त्याग करता है, फिर चाहे वह पिता ही क्यों न हो परन्तु प्रेमी प्रहलाद प्राणों की भी परवाह न करते हुए ऐसे पिता का त्याग कर देता है। प्रेमी विभीषण अपने भाई का त्याग करके अपने प्रेमास्पद से जा मिलता है। परम प्रेमी भरत को अपनी माता का त्याग कर देने में किंचित् भी मोह नहीं होता इसी प्रकार दैत्यराज बलि के प्रेमी हृदय में प्रेमास्पद प्रभु के विरूद्ध गुरू की अवहेलना करते हुए किंचित् भी संकोच नहीं होता । प्रेमिका गोपिकाओं को अपने परम प्रेमास्पद के प्रेमपथ में बाधक शरीर के पति का त्याग और पति के अर्पण किये हुए शरीर तक का त्याग करने में कुछ भी भय नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार युग-युगान्तरों में अगणित प्रेमी हृदय प्रेम के पथ में त्याग के ही द्वारा बढ़ते हुए और परम प्रियतम से मिलते हुए देखे जा रहे हैं। प्रेम के पथ में ही कोई सन्यासी होकर, कोई उदासी या कोई वैरागी एवं यती व्रती अथवा तपस्वी होकर, कोई ज्ञानी ध्यानी होकर केवल त्याग के ही बल से सद्गति, परमगति एवं परमशान्ति प्राप्त कर सके हैं।

प्रेमी पूर्ण निर्भय रहता है

प्रेमी जब सांसारिक सुखों से विरक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमात्मा की शरण लेता है, तब त्याग को देखकर उसके प्रेम की परीक्षा होती है।

प्रेमी के प्रेम की जो कुछ परीक्षा होती है उसमें प्रेमी अपना परम सौभाग्य समझता है, क्योंकि हर एक प्रेमी परीक्षाग्नि में तप कर ही निर्मल होता है। परीक्षा में सफल होने पर प्रभुत्व की प्राप्ति होती है।

प्रेमी अपने जीवन की भी चिन्ता न रखते हुए हर प्रकार की परीक्षा में निर्भय होकर तत्पर रहता है। प्रेमी सन्त प्रेम-पथ के पथिको को इसीलिये सावधान करते रहते हैं। सन्त-शब्दः-

'कामी क्रोधी लालची, इनते भक्ति न होय।
भक्ति करे कोइ सूरमा, जाति बरन कुल खोय।।'
'जब लगि मरने से डरै, तब लगि जीवन नाहि।
बड़ी दूर है प्रेम घर, समुझि लेहु मन माहि।।'
'चढ़ा मन्सूर सूली पर पुकारा इश्कबाजों को।
ये उसके बाम का जीना है, आये जिसका जी चाहे,
'रहिमन मारग प्रेम का मत मितिहीन मझाव।
जे डिगिहै तो फिर कतहुँ नहिं घरने को पाँव।।'

जिस प्रेमी में उत्कृष्ट साहस हो, अटूट धैर्य हो और अटल अनुराग हो उसको भला कौन सी कठिनाई परास्त कर सकती है सच्चे प्रेमी की सर्वत्र विजय होती है।

प्रेमी के निर्भय रहने का कारण यह भी है कि उसमें समुचित सहनशीलता होती है और यह एक ऐसा सद्गुण है जो मनुष्य को पूर्ण तपस्वी बना देता है, इसी गुण के कारण प्रेमी में भरपूर शक्ति संचित रहती है।

प्रेमी को कदाचित् कोई मारता है और पुनः जब दूसरा कोई प्यार करता है, जब उसे एक ओर से सम्मान मिलता है और दूसरी ओर से अपमान यह निन्दा का प्रसंग सामने आता है तब इस प्रकार की अनुकूलता, प्रतिकूलता में प्रेमी अपने प्रति एक ही कौतुकी शक्ति को रहस्यमयी लीला का अनुभव करता है।

ऐसे प्रसंगो में प्रेमी यही देखता है कि जिसने दण्ड दिया है वही दूसरे रूप से सेवा- उपचार कर रहा है, वह एक ही है जो कभी एक रूप से स्तुति करते हुए सम्मान पात्र बनाता है और कभी दूसरे के प्रति जो कुछ भी किसी ओर से आता है या जाता है, प्रत्येक दशा में वह अपना हित ही समझता है, कभी किसी से उद्विग्न नही होता।

जिस प्रकार तलवार की तीक्ष्णता रुई का कुछ भी बिगाड़ नहीं पाती, उसी प्रकार प्रेमी की नम्रता के आगे प्रकृति की कठोरता परास्त हो जाती है। सहनशीलता, नम्रता, क्षमा और धैर्य के द्वारा ही प्रेमी की वीरता एवं धीरता प्रकाशित होती है।

प्रेमी अपने जीवन में भाग्यवशात् मिलते हुए द्वन्द्वदुःखो को, वियोग वेदना को, अपमान या अत्याचार एवं निन्दा या दण्ड आदि का बहुत ही गम्भीर रह कर धैर्यपूर्वक सहन करता है। वह कहीं असन्तुष्ट और दुखी नहीं होता। प्रेमी अपने परम प्रेमासपद को अपना सर्वस्व समर्पण करके निश्चिन्त रहता है। प्रेमी के लिये प्रायः सभी उत्कृष्ट साधन-पथ खुल जाते हैं, इसी कारण प्रेमी सदा निर्भय रहता है।

परम प्रेम का अधिकारी

जो प्रभु पतितों को पावन बनाते है, जो दुखियों के दुःखहारी और दीनबन्धु है उनका प्रेमी वही हो सकता है जो पतित एवं दुखी नीचातिनीच प्राणियों के बीच में अपनी दया तथा करूणा को लेकर उतरता है और अपनी शक्ति से उनका सहायक बनता है कोई मनुष्य कितना ही विद्वान् क्यों न हो, कितनी ही अच्छी प्रभुता क्यों न हो, किसी भी प्रकार की शक्ति सम्पन्नता के होते हुए यदि दीनों, दुखियों ओर असहाय पतितों के प्रति उसके हदय में दया, सहानभूति जागृत नहीं है तो उसका सब कुछ निरर्थक ही है। वास्तव में भाग्यशाली वही है, जो दुर्भाग्यशाली पर दया करता है। किसी सन्त का वचन हैं-

दाया करे धरम मन राखे, घर में रहे उदासी।
अपना सा दुख सबका जाने, ताहि मिलै अविनासी।।

प्रेम-पथ में चलते हुए एक प्रेमी को अपनी पिछली भूल का ज्ञान होता है और वह अपने शब्दों में उपर्युक्त भाव को गाते हुए कह रहा है-

'मैं ढूँढता तुझे था जब कुंज और बन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।।
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता, संगीत औ भजन में।
मेरे लिये खड़ा था, दुखियों के द्वार पर तू।

मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।।
बाजे बजा बजाकर, मैं था तुझे रिझाता।।
तब तू लगा हुआ था, पतितों के संगठन में।।
तूने दिये अनेकों अवसर, न मिल सका मैं।
तू कर्म में मगन था, मैं व्यस्त था कथन में।।

प्रेमी कवि के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रभु के प्रेम का अधिकारी कौन हो सकता है? सच्चे प्रेमी को तो अपने प्रियतम की ही झाँकी सर्वत्र दिखाई देती है। इसीलिये प्रेमी की यही सम्मति है-

झुका दो सर उसी के सामने, आ जाय जो कोई।
अगर सिजदा ही करना है, तो मालिक सबमें रहता है।।

भगवान कृष्ण ने भी आत्मारूप से सर्वव्यापक परमात्मा की भक्ति-प्रेमी अर्जुन को-अनेक युक्तियों से समझाया है। भगवान् कृष्ण के जैसे समर्थ सद्गुरूदेव के होते हुए भी यदि जिज्ञासु मानव उनके सदुपदेशों के अनुसार न चल सके तो उसका महान् दुर्भाग्य ही है।

जिस मनुष्य ने परमार्थ की चिन्ता न करके अपने हृदय में स्वार्थरूपी शैतान के लिये स्थान दे रक्खा है उसी में प्रायः काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, घृणा द्वेष और कलह आदि की क्रूर क्रियायें होती रहती हैं। ऐसा व्यक्ति पावन प्रेम के राज्य में प्रवेश नही कर सकता ।

सन्त-शब्द-

काम बिगाड़े भक्ति को, ज्ञान बिगाड़े क्रोध।
लोभ विराग बिगाड़ दे, मोह बिगाड़े बोध।।

सच्चा प्रेमी एकनिष्ठ होता है।

केवल परमाराध्य प्रभु के ही प्रति दृढ़ निष्ठा होना उनके पाने का सुगम उपाय है। जो सात्विक श्रद्धावान् निष्काम प्रेमी हैं वही एकनिष्ठ हो सकते है। जो व्यक्ति उस सर्वोत्कृष्ठ महान् की महिमा को नहीं जानते वही शक्ति के अनेक रूपों को महत्व देते हुए अनेक के भक्त होते हैं। लेकिन जो उस एक महान् की महिमा को जानते हैं वह उसी परमोत्कृष्ट तत्व के भक्त होते है। वे अनेक को नहीं देखते। जो यथार्थ ज्ञानी है वही सच्चा प्रेमी हो सकता है और सच्चा प्रेमी ही एकनिष्ठ रह सकता है।

प्रेम योगी की निष्ठा एक जगदाधार में स्थिर होती है और भोगी की निष्ठा जगत की अनेकता में चंचल रहती है। सत्शिष्य अपने सद्गुरुदेव में, ज्ञानी अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा, प्रेमी अपने परमाधार प्रेमास्पद में और भक्त अपने भगवान में दृढ़ निष्ठा के द्वारा ही तन्मय हो पाते है दृढ़ निष्ठा में शक्ति का समुचित संचय रहता है, इसी से दृढ़ निष्ठा वालो को अभीष्ठ सफलता प्राप्त होती है। जिनकी निष्ठा चंचल और निर्मल है वे सन्त-गुरुदेव के संग से, प्रेमपूर्वक निष्काम सेवा से, अथवा परमात्मा के नाम, जप, एवं गुण-स्वभाव के सुमिरन, चिन्तन और ध्यान से अपनी मनोवृत्तियों को ध्येयाकार बनाते हुए दृढ़ निष्ठ हो सकते हैं। निष्ठा वही सत्य और सुन्दर है जिसमें सांसारिक पदार्थो के प्रति कही राग न हो। सन्त-शब्द-

'एक मूल गह लीजिये, रखिये एकै टेक।
दूजी राह न चालिये, लखिये सबमें एक।।
दूजा अंग न लाइये, दूजा देख न नैन।
निश्चल मति रति एक सों, सुनै न दूजा बैन।।'

प्रेमास्पद प्रभु की दिव्य उपस्थिति अपने में ही निरन्तर विद्यमान है। वे इतने निकट है कि उनकी अति निकटता के कारण ही खोज करने वाले भूल रहे है । इन भूलने वालो को जब तक परम प्रभु के नित्य योग का ज्ञान नही होता तब तक यह भूल दूर नहीं होती। इस विषय में नहीं होता। इस विषय में सन्त प्रत्येक जिज्ञासु को सावधान करते है।ः-

'परम तत्व जाने बिना मन का भरम न जाय।
सतस्वरूप उस एक में रहिये सदा समाय।।'

'साहब रीझे भक्ति सू भक्ति बिना हरि दूरि।
रामरूप हरि भक्तिबिन गए बिसूरि बिसूरि।।

इस प्रकार सन्त सत्पुरुषो के शब्द के शब्द सुनते हुए नाना प्रकार के कर्मो एवं धर्मो की शरण जाते हुए, और अनेक तरह के कीर्तन, पाठ, जपादि साधनो का आश्रय लेते हुए भी यदि हृदय में विशुद्ध प्रेमानुराग जागृत न हुआ तो प्रेममय प्रभु का योग प्राप्त होना दुर्लभ रहता है। सन्त तुलसीदास प्रेमास्पद प्रभु को रघुपति,राघव, राजाराम के रूप में मानते हुए कहते हैं

मिलै न रघुपति बिनु अनुरागा।
किये कोटि जप याग बिरागा।।

जिस अनुराग के बिना प्रेमास्मद प्रभु की प्राप्ति नही होती उस अनुराग की जागृति मोह दूर हुए बिना नहीं हो सकती और मोह की निवृति सद्ज्ञान से ही होती है, सद्भाव सत्संग से प्रकाशित होता है। सन्तों का निर्णय है। सन्त- शब्दः- बिनु सत्सग न हरि कथा, तिहि बिनु मोह न भाग।

मोह गए बिनु राम पद होय न दृढ़ अनुराग।।

परम प्रेममय परमात्मा से ही अनुराग होता है क्योंकि वही एक ऐसा है कि जो बिना प्रेम किये ही प्राणी मात्र के प्रति प्रेममय है। उसी परम प्रेम का अनुराग करते हुए जो कोई उसी के प्रेमी होते है उन्हीं को अनुरागी कहते है। सुखासक्तिवश जड़ जगत् के असत् नामरूपों के प्रति मनुष्य ममत्वाभिमानी है उसी को रागी कहते है।

जब तक मनुष्य अज्ञानवश अपने से भिन्न जगत् के नामरूपो में सुखासक्ति के कारण ममत्व रखते है, अर्थात् जगत् के विविध पदार्थो एवं सम्बन्धियो के रागी है तब तक वे दुःखबन्धनो से छूट नहीं सकते। क्योकि सुखासक्तिअपने स्वार्थमय संकीर्ण हाथों से जगत् के पदार्थों एवं सम्बन्धियो को जितनी ही दृढ़तापूर्वक पकड़ते है, उतनी दृढ़ता से वे स्वयं पकड़े जाते है। इसके विपरीत जो मनुष्य त्याग के द्वारा खुले हुए विशाल हृदय फैलाकर अपने से अभिन्न जगदाधार, प्रभु से मिलने के लिये सावधान होते है, वही सच्चे अनुरागी है, और उन्ही को संसार के दुःख- बन्धनों से मुक्ति प्राप्त होती है।

सांसारिक मोह अथवा राग संसार से बाँधता है और सत्यानुराग सत्य

प्रभु से संयुक्त करते हुए संसार से मुक्त करता है। संसार का रागी अपने एक प्रेमास्पद को न जानकर अनेक का भक्त होता है और सत्यानुरागी एक परम प्रेमास्पद प्रभु को जान कर उसी एक का भक्त होता है।

मनुष्य तभी तक सांसारिक पदार्थो एवं सम्बन्धियों का मोही अर्थात रागी रहता है, जब तक वह उनसे सुख पाने की आशा करता है। जब कभी वह सम्बन्ध विच्छेद होने पर दुखी होता है, सन्त संग सुलभ होने से विचार-दृष्टि द्वारा जगत् के पदार्थो एवं सम्बन्धियों का वास्तविक रूप देखता है, तभी सबसे निराश होकर एक सर्वाधार प्रभु की शरण लेता है। असत् सम्बन्ध से विमुख होना ही सत्य प्रभु के सम्मुख होना है।

सांसारिक पदार्थो में सुखभावना रखते हुए जब तक मनुष्य आसक्त रहता है, तब तक उसे उनका यथोचित ज्ञान नहीं होता। लेकिन जब कभी दुःखाघात के कारण यह संत सद्गुरु संग से विचार उत्पन्न होने पर यथार्थ ज्ञान होता है तब उन भोगजनित सुखों में एवं सम्बन्ध संयोगजनित रस में चैन ही नहीं आती। और तभी उधर का राग अपने प्रेमास्पद प्रभु के प्रति अनुराग में बदल जाता है। तभी प्रेमी पूर्ण त्यागी होकर केवल अपने प्रेमास्पद को ही चाहता है, उन्हीं की उपासना में परम संतुष्ट रहता है। उनकी सेवा पूजा के अतिरिक्त प्रेमी और कुछ नहीं चाहता।

प्रेमी की विनय

सब कुछ ले लो किन्तु तुम्हारी सेवा का अधिकार रहे।
प्यार रहे, न रहे, पर प्रिय, मुझ पर सेवा का भार रहे।।

संसार में रागी मनुष्य अपने सुखद पदार्थो से कभी न कभी निराश होकर शोक एवं पश्चाताप से निश्चय ही व्यथित होते है; क्योंकि उनका सुख ऐसे पदार्थो पर निर्भर रहता है, जो कि स्थिर नहीं है तब उनसे स्थायी सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है।

सत्य चिन्मात्रस्वरूप के अनुरागी मनुष्य इसीलिए, सदा शांत, स्थिर-चित्त और स्थायी हर्ष से प्रफुल्लित रहते है,क्योंकि उनका आनन्द अपने आप में ही मिलने वाले प्रेममय परम प्रभु पर अवलम्बित रहता है।

रागी मनुष्य अपनी रूचि-पूर्ति करने में परतन्त्र है, सत्यानुरागी मनुष्य

अपनी न्यायोक्त रूचि की पूर्ति के लिये स्वतन्त्र है। सांसारिक सुख-भोगों का रागी मनुष्य चंचलता, इन्द्रियलोलुपता के कारण निम्न संसार में पतित होता है; और सत्य के भोगानन्द का अनुरागी मनुष्य मन का निरोध तथा इन्द्रियदमन करते हुए परमोत्कृष्ट शान्तिपद में स्थिति पाता है।

सन्त-शब्दः- विद्यावन्त सरूप गुण, सुत दारा सुख भोग।
नारायण हरि भक्ति बिन, यह सब ही हैं रोग।।

अपने को देकर ही प्रेमास्पद को पाना होता है

प्रेमास्पद प्रभु केवल प्रेम के द्वारा ही प्राप्त होते है, और प्रेम केवल अपने आपको देकर ही मिलता है; अन्य किसी प्रकार से वह प्राप्त नहीं किया जा सकता । कुछ प्रेमी अपना तन,मन,धन देकर प्रेमास्पद को चाहते है लेकिन अपने को नहीं दे पाते, इसीलिये ये प्रेमास्पद की ओर से और सब कुछ तो पाते रहते हैं परन्तु प्रेमास्पद को ही नहीं पाते। प्रेमास्पद को चाहने वाले अपने को अलग बचा नहीं सकते, अपने को बचाकर रखने वाले प्रेमास्पद को पूर्णतः पा नहीं सकते।

अपने को बचा कर रखने वाले भोगी होते हैं और अपने सत्य प्रभु के समर्पण कर देने वाले योगी होते हैं। भोगी मोहासक्त होकर संसार में पतित होते हैं, और योगी परम प्रेम के द्वारा प्रेमास्पद से मिलकर परमानन्द प्राप्त करते हैं।

जिस किसी के हृदय में अपने सच्चे प्रेमास्पद प्रभु को ही पाने की एकमात्र अभिलाषा रहती है, अन्य कोई भी चाह नहीं रह जाती जब वही एकमात्र प्रेमी के परमाश्रय होते है, तब किसी ओर, कहीं भी चित्त चंचल नहीं होता, समस्त छुद्र इन्द्रियाँ मौन हो जाती है; मन अपने मानने और मनन करने का स्वभाव त्याग कर बुद्धि के पीछे हो जाता है; बुद्धि भी अनेकता की सीमा के परे, अनन्त एकान्त में चिन्मात्रस्वरूप परम तत्व की विशाल व्यापकता का दर्शन करते हुए उसी में लीन हो रहती है; यहीं पर अहंभाव देह, मन, बुद्धि आदि सीमाओं से मुक्त होकर- 'मै' मेरा कहना छोड़कर तू और तेरा का श्रद्धापूर्वक गान करते हुए आनन्द स्वरूप प्रभु में तन्मय हो रहता है सन्त शब्द-

प्रेम छुटावै जगत को, प्रेम मिलावै रास।

प्रेम करै गति और ही, लै पहुँचै हरिघाम।।

स्मरण में विस्मरण

किसी के स्मरण में ही किसी का विस्मरण होता है। जब किसी प्रेमी के हृदय में एक प्रेमास्पद को भूलकर किसी अन्य का स्मरण हो रहा हो तब उसे विचार-दृष्टि से देखना चाहिए कि वह स्मरण प्रेमास्पद प्रभु के लिए हो रहा है, या प्रेमास्पद को भूलकर अपने लिए हो रहा है; क्योंकि किसी को भूलकर ही किसी की याद आती है।

प्रेमी अनेक को भूलकर ही एकमात्र अपने प्रियतम प्रभु की याद करता है। वह अपने एक हृदय में एक प्रेमास्पद प्रभु को ही स्थान देता है। सच्चे प्रेमी की नीति में अपने परम प्रियतम के अतिरिक्त किसी दूसरी ओर मन का चंचल होना प्रेमी के लिए कलंक की बात है; क्योंकि एक हृदय अनेक को देना व्यभिचार है, ऐसा तो भोगी प्राणी करते हैं। सच्चे प्रेमी के हृदय में तो एक प्रियतम प्रभु का ही सर्वभावेन अधिकार रहता है, अनेक का नहीं ।

जगत् को भूलने पर जगदीश्वर का स्मरण होता है; ऐसा होने पर यदि जगदीश्वर के लिये जगत् का स्मरण करना पड़े , तब तो कुछ हानि नहीं, लेकिन जगदीश्वर को भूलकर जगत् का स्मरण होने लगे तो यह प्रेमी का पतन कहा जायेगा। जगत् से विरक्त होने पर ही जगदाधार से अनुरक्ति होती है और पूर्ण अनुरक्ति होने पर जगत् की याद नहीं रहती है। सन्त-शब्दः-

प्रेम दिवाने जे भए, मन भे चकनाचूर।
छके हुए घूमत फिरैं, सहजो देखि हजूर।।
प्रेम दिवाने जे भए, जाति वरन गए छूट।
सहजो जग बौरा कहे, लोग गए सब फूट।।
मन में नित आनन्द रहे, अरु पुलकित सब अंग।
ना काहू के संग है, सहजो ना कोइ संग।।

जो कोइ परम प्रेमास्पद के प्रेमपथ में चले हुए सांसारिक पदार्थो एवं सम्बन्धियों के संयोग-वियोग में हर्षित या शोकित हो तो वह अवश्य ही अपने प्रियतम प्रभु के सम्मुख अन्य पदार्थो एवं सम्बन्धियों को विशेष महत्व की दृष्टि से देखता है और जितने समय तक वह सम्बन्धजनित हर्ष या शोक की वेदना से प्रभावित रहता है उतनी देर अपने सच्चे प्रियतम प्रभु को भूलकर ऐहिक

पदार्थो एवं सम्बन्धियों का ही स्मरण करता है। ऐसे व्यक्तियों को सन्त सावधान करते हैं।

'कबीर मन तो एक है, चाहे जहाँ लगाय।
चाहे हरि की भक्ति कर, चाहे विषय कमाय।।
'नारायण हरि लगन में, यह पाँचो न सुहात।
विषय भोग, निद्रा, हँसी, जगत प्रीति, बहुबात।।
'धन दारा अरु सुतन में, रहत लगाये चित्त।
क्यों रहीम खोजत नहीं, गाढ़े दिन को भित्त।
'जो प्राणी ममता तजै, लोभ मोह अहंकार।
कह नानक आपुन तरै, औरन लेत उवार।।

उत्तम प्रेमी और उसका ध्यान

मनुष्य के चित्त में जिस पदार्थ का अधिक चिन्तन होता है उसी का ध्यान रहने लगता हैं। ध्यान उसे कहते हैं जो किये बिना ही निरन्तर होता रहे। प्रपंची और परमार्थी के चिन्तनीय पदार्थ भिन्न-२ होते है। प्रपंची विविध सुखों के लोभवश सांसारिक पदार्थों का चिन्तन करता है, और परमार्थी आनन्द की प्राप्ति के लिये सत्य परमात्मतत्व का चिन्तन करता है। प्रंपची सांसारिक पदार्थों में आसक्त मोही है, ओर परमार्थी संसार से विरक्त, परमात्मा में अनुरक्त सच्चा प्रेमी हैं।

परमार्थी प्रेम अपने परम प्रेमास्पद के चिन्तन में जब जगत्-प्रपंच का चिन्तन भूल जाता है, तभी वह प्रायः निरन्तर ध्यानाभाव-स्थित रहने लगता है।

सच्ची ध्यानावस्था वही है जिसमें प्रेमी के लिये सब कुछ प्रियतममय हो जाता है। इसीलिये सच्चे प्रेमी को अपने प्रेमयोग के अतिरिक्त किसी अन्य योगाभ्यास की आवश्यकता नहीं रह जाती । आसन, प्राणयाम,जप,तप आदि की धारणा को लेकर, या और किसी बाह्य आधार के साथ क्रियात्मक ध्यान तो प्रेम के अभाव में चित्तनिरोध के लिये आवश्यक उपाय है, जो समुचित प्रेमविकास न होने तक करने पड़ते हैं। प्रेमी का चित्त तो प्रियतम प्रभु के अतिरिक्त कहीं जाता ही नहीं।

सन्तः-शब्द- प्रियतम छवि नयनन बसी, पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिरि जाय।।

जब प्रेमी का चित्त पूर्ण शक्ति से अपने पूर्णानन्दस्वरूप प्रियतम के चिन्तन में तल्लीन होकर ध्यानस्थ होता है तब अपने में इस प्रकार शक्ति और शान्ति पाता है कि चित्तको अपूर्ण की ओर चंचल होने की आवश्यकता ही नहीं रहती । अपूर्ण पदार्थ के चिंतन ध्यान से अपूर्णता रहती है और पूर्ण तत्व के चिंतन ध्यान से पूर्णता प्राप्त होती है। जगत् में सब कुछ अपूर्ण है और जगदाधार सत्य तत्व सभी प्रकार से पूर्ण है, ऐसे परम तत्व के जो प्रेमी हैं वह सर्वत्र उसी प्रेमास्पद प्रभु की पूर्णता का अनुभव करते रहते हैं ओर उसी में ध्यानस्थ रहते हैं। परम प्रेमिका गोपिकाओं में इसी प्रकार का परमोत्कृष्ट ध्यान पाया जाता हैं।

जो न जी में प्रेम तब कीजै व्रत नेम,
जब कंज मुख भूले तब संयम विशेखिये।
आस नहीं पी की तब आसन ही बाँधयतु,
साँसन के सासनको मूँदि पति पेखिये।।
नख ते सिख लों जब श्याममयी बाम भई,
बाहर भीतर न दूजौ 'देव' लेखिये।
योग करि मिलै जो वियोग होय प्रियतम,
ह्याँ न हरि होय जो, तो ध्यान धरि देखिये।।

(एक कवि)

कुछ साधक अपने आराध्य प्रभु के स्थूल रूप का, चित्र या प्रतिमा के द्वारा चिन्तन करते हुए उसे ही ध्यान समझते है; परन्तु वास्तव में यह ध्यान नहीं कहा जा सकता । प्रेमास्पद के रूपनाम का सुमिरन-चिन्तन करते हुए प्रेमी साधक अपनी मनोवृत्ति को अन्तर्मुख करके जब उनके सद्गुणों और सद्भावों की महत्ता को देख पाता है, तब स्वतः ही हृदय से उनके प्रति ऐसा आकर्षण होता है कि वे भुलाने पर भी नहीं भूलते, फिर तो उनके बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगताः इस प्रकार मन तथा चित्त की तल्लीनता के साथ-साथ बुद्धि में उन्हीं का ज्ञान बढ़ता जाता है, तब स्वतःहोने वाला ध्यान रहने लगता है। जो अपने प्रेमास्पद प्रभु के ध्यान में सर्वागों से तन्मय है वही सच्चा ध्यानी है। प्रेमी अपने आराध्य की आराधना में तत्पर रहते हुए शीघ्र ही ऐसी स्थिति

में पहुँचता है कि उसे अपने अहं का सीमित अस्तित्व भी पूर्ण योग में बाधक प्रतीत होता है। अपने क्षुद्र अहं को देखते हुए किसी प्रेमी ने अपने प्रेमास्पद से कहा हैः-

'मैंने सुना, गरूर में तुम पदंनुमा हो।
लो, खाक हो रहा हूँ अब जल्वा नुमा हो।।

अपने प्रेमास्पद की महत्ता को सर्वत्र देखते हुए अपने क्षुद्र अहं भाव का अस्तित्व मिटाकर उन्हीं में सर्वभावेन समर्पित हो रहना सर्वोत्तम प्रेम की पराकाष्ठा है।

प्रेमी अपने प्रेमास्पद प्रभु के अतिरिक्त अन्य किस पदार्थ में अपनत्व नहीं रखता, वह एक प्रेमास्पद को ही अपना जानता है और अपना सब कुछ प्रेमास्पद के अर्पण कर देता है। इसीलिए उसके हृदय में प्रेमास्पद के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का अभिमान नहीं होता । प्रेमी तो यही कहते हुए परम प्रभु के सम्मुख रहताः-

'मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझकों सौपते, क्या लागत है मोर।।

पूर्ण प्रेमी अपने प्रेमास्पद के अतिरिक्त संसार में किसी पदार्थ की कामना नहीं रखता। जिसमें कामना न होगी वह भला किसी पदार्थ का लोभी क्यों होगा?और जब किसी पदार्थ का लोभ न रहेगा तब वह मोह किससे करेगा। इस प्रकार जिसके अन्तःकरण में किसी प्रकार की कामनायें नहीं रह गई हैं, जो लोभ एवं मोह से रहित हो चुका है, ऐसे व्यक्ति को किसी के द्वारा हानि ही क्या हो सकती है! जहाँ हानि लाभ का प्रश्न ही नहीं रह गया है वहाँ किसी के प्रति राग, द्वेष, क्रोध आदि का स्थान ही नहीं रह जाता; इसीलिये प्रेमी का हृदय विकारों से रहित होता है। तभी तो कहा हैः-

'उमा जे राम चरण रत विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं विरोध।।

जब प्रेमी जगत और जगदाधार को तत्वतः जान लेता है, तभी वह जगदाधार में अभिव्यक्त चिन्मात्रस्वरूप प्रेमास्पद को सर्वत्र सर्वमय देखते हुए परम तृप्त रहता है

प्रेमी को संसार में और कुछ भी महत्वपूर्ण दिखता ही नहीं तभी पूर्ण विरक्त रहता है। प्रेमी पूर्ण ज्ञानी भी होता है, धर्मनिष्ठ कर्तव्यपरायण भी होता

है।

प्रेमी स्वार्थजनित विविध विकारों की सीमा को पार करके अपनी ज्ञान-दृष्टि द्वारा विश्वमय विशालता के भीतर सरलता, क्षमता, गम्भीरता और उदारता को धारण किये हुए मुक्ति के आनन्द का अनुभव करता है, उत्तम प्रेमी जो कुछ भी ग्रहण करता है वह केवल प्रेमास्पद की सेवा में काम देने वाली वस्तु को समझ बूझ कर लेता है, ओर उनके काम न आने वाली कोई वस्तु कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो परन्तु प्रेमी उसका त्याग कर देता है।

उत्तम प्रेमी अपने आराध्य प्रियतम के अतिरिक्त अन्य किसी से भी प्रसन्न नही होता, न उसे किसी अन्य को प्रसन्न करने की ही चिन्ता होती है, क्योंकि उसके हृदय में अन्य किसी के लिए स्थान ही नहीं रहता ।

प्रियतम प्रभु के अतिरिक्त किस अन्य को प्रेमपात्र मानना उत्तम प्रेमी की दृष्टि में वेश्या की नीति प्रीति चरितार्थ करना है, इसीलिये उत्तम प्रेमी का एक ही प्रेम-पात्र होता है। उत्तम प्रेमी सब तरह की सुखद-दुःखद परिस्थितियों में अपने परम प्रभु के आश्रित होकर समस्थित और निर्भय रहता है। किसी भी दशा में वह अपने आराध्य को नहीं भूलता।

सन्त-शब्दः- 'ज्यों तिरिया पीहर बसे, सुरति रहे पिय माहि।
ऐसे जन जग में रहें, प्रभु को भूलत नाहि।।'

उत्तम प्रेमी अपने प्रेमास्पद से अपने लिए कुछ याचना भी नहीं करता । जो कुछ भी आता है या जाता है, उसे अपने प्रारब्ध का भोग समझकर तटस्थ भाव से देखता रहता है । उत्तम प्रेमी की गम्भीरता,सहनशीलता और वीरता विलक्षण ही होती है। उसकी प्रीति, रीति और नीति भी निराली होती है एक प्रेमी तो अपने साथ सभी प्रेमियों के लिये कुछ कहने का स्थान ही नहीं रहने देता। कितनी सुन्दर युक्ति है :-

'जिहि रहीम तन मन दियो, किये हिये बिच भौन।
तासों दुख सुख कहन की, रही बात अब कौन।।
'जो तेरे घट प्रेम है, तो कहि कहि न जनाव।
अन्तर्यामी जानि हैं, अन्तर उर का भाव।।

संसार में उत्तम प्रेमी कहीं विरले ही मिलते है जो पूर्ण त्यागी है, पूर्ण

तपस्वी है और यथार्थ ज्ञानी है, वही उत्तम प्रेमी होते है किसी ने कहा भी है-

'चाहन हारें सुख सम्पत्ति के जग में मिलत घनेरें।
कोई एक मिलत कहुँ प्रेमी नगर बगर सब हेरे।।

सत्यानुराग ही के लिये सम्पूर्ण साधना है

अपने परम प्रेमास्पद के प्रति पूर्ण अनुराग न होने के कारण ही मनुष्य वाह्य क्रिया पद्धति में साधन को सीमित कर रहे है। कोई तीर्थो में उन्हें खोजते है; कोई मन्दिरों तथा मूर्तियों में उन्हें मानते है; कोई कीर्तन द्वारा मिलने का विश्वास कर रहे है; कोई जप की निश्चित संख्या की आवृत्तियों की पूर्ति पर, दर्शन होने की आशा में क्रिया-तत्पर है; कोई सन्तों के समागम में ही परमप्रभु के मिलने की चर्चा मात्र कर रहे है; कोई सद्‌गुरू कृपा के ऊपर ही पूर्ण निर्भर होकर कृर्तृत्वाभिमान के बोझ को फेंककर, कुछ शान्ति की साँसे लेते हुए, प्रेमास्पद प्रभु के पूर्ण योग प्राप्ति की प्रतीक्षा में रूक रहे है। यह जो कुछ भी कर रहे हैं सब ठीक ही कर रहे है और तब तक करते रहेंगे जब तक प्रेमास्पद के प्रति पूर्ण अनुराग हृदय में विकसित न हो जाय।

समस्त साधनों की सुन्दर सफलता यही है कि अन्तःकरण शुद्ध हो जाय; क्योंकि अन्तःकरण के शुद्ध चिन्मात्रस्वरूप सत्य का ज्ञान होता है, और ज्ञान होने पर ही पूर्ण अनुराग होता है।

ज्ञान के अनुसार प्रेमास्पद प्रभु की खोज

प्रेमियों की निराली दुनिया है, निराला जीवन है, निराला ही उनका ज्ञान, ध्यान, धर्म और कर्म है। इन प्रेमियों में कोई अपने प्रेमास्पद को दिल देकर खोजते है, तो कोई अपने दिल में लेकर खोजते है। जो दिल देकर खोजते है, वे अपने से बाहर खोजते है; और जो दिल में खोजते है, वे अपने भीतर खोजते है। बाहर खोजने वालों को यह समस्त विश्व ही विश्वनाथ का स्वरूप दिखाई देता है ऐसे प्रेमियों के उद्‌गार भी इसी भाव को लेकर निकलते है। सन्त शब्द-

को कासो किहि विधि कहै, परम प्रेम की बात।
हरि हेरत हिय हरि गयो, हरि सर्वत्र लखात।।
प्रेमी पहिचानत नहीं, एक श्याम बिन और।

सोवत जागत जगत में, श्याम सदा सब ठौर ।।

इस प्रकार भीतर खोजने वालों को अहं ही ब्रह्ममयी दिखाई देता है, ऐसे प्रेमी आश्चर्यचकित होकर कहते हैः-

खोजते खोजते खुद खो गया।
चाह थी जिसकी वही खुद हो गया।।
'आप ही आप यहाँ तालिबो मतलूब है कौन।
मैं जो आशिक हूँ कहा था मुझे मालूम न था।।
वजह मालूम पड़ी तुझसे न मिलने की सनम ।
मैं ही खुद पर्दा बना था मुझे मालूम न था।।
बाद मुद्‌दत में हुआ वस्ल, खुला राज वतन।
वासिले हक मैं सदा था, मुझे मालूम न था।।

एक प्रेमी की आवाज हैः-

'दिया हमने खुदी को जो अपनी मिटा,
वह जो पर्दा दुई का था न रहा।
रहा परदे में अब न वो पर्दा नशीं,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा।'

इसीलिये एक प्रेमी सम्मति देते हैः-

'तू को इतना मिटा कि तू न रहे।
और तुझमें दुई की बू न रहे।।

एक प्रेमी की सम्मति है कि इतना खोजो कि खोजते-खोजते तुम खुद खो जाओ, तभी उन्हें पा जाओगे। सन्त शब्द-

आपुहि खोये पिउ मिले, पिउ खोये सब जाय।
देखहु बूझि विचारि मन, लेहु न हेरि हिराय।।'

कुछ प्रेमी हृदय तो इस दशा के साक्षात्‌ प्रमाण रूप होकर कह रहे है-

मोहि मोहि मोहन मयी री मन मेरो भयो।
'हरीचन्द्र' भेद न परत कछु जान है।
कान्ह भये प्रान मय, प्रान भये कान्ह मय
मन में न जानि परै कान्ह हैं कि प्रान है।।

जहाँ एक प्रेमी बाहर खोजने की सम्मति देते है, वहीं दूसरे प्रेमी बाहर की खोज बन्द करके अपनी समस्त क्षुद्र इन्द्रियों समेत मन से मौन हो रहने के लिये कहते है क्योंकि इन प्रेमियों के शब्दों में अपने प्रेमास्पद अपने भीतर ही मिलेंगे।

'यार है दिल में मगर ढूँढ़ते हम रहते हैं ।
वस्ल हासिल है मगर हिज्र के गम सहते हैं।।
'सुन्दर अन्दर पैठि के, दिल में गोता मार।।
तो दिल ही में पाइये, सांई सिरजनहार।।
'सखुन हमारा मानिये, मत खोजे कहुँ दूर।
सांई सीने बीच हैं, सुन्दर सदा हजूर।।
'कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढै बन माहिं।
ऐसे घट घट राम हैं, दुनिया देखत नाहिं।।

एक प्रेमी बहुत रहस्यपूर्ण शब्दो में प्रेमास्पद प्रभु के प्रभु के पूर्ण योगियो की दशा का दिग्दर्शन कराते है:-

बुन्दहि सिन्धु समान, यह अचरज कासों कहों।
जो हेरा सो हेरान, मुहम्मद आपुहि आप महँ।।

एक तरह के प्रेमी अपने प्रेमास्पद को खो के खोजते है और एक ऐसे भी प्रेमी है जो उन्हें पा के खोजते है। जो खो के खोजते हैं, वह बाहर खोजते है और जो पा के खोजते है वह अपने भीतर खोजते हैं। इन प्रेमियो के कितने मार्मिक उद्गार है:-

'हेरत हेरत हे सखी, रह्यो कबीर हेराय।
बूँद समानी समुद्र में, सो कत हेरी जाय।।
'कहु रहीम कैसे बने, अनहोनी है जाय।
मिला रहे औ ना मिले, तासों कहा बसाय।।'
'जब लगि प्रगट न देखिये, दरश मिलै नहि आय।
एक सेज संगहि रहै, यह दुख सहा न जाय।।'

संसार के समस्त प्राणी एकमात्र आनन्दस्वरूप परम प्रियतम को ही खोजे रहे है, लेकिन कोई ज्ञानपूर्वक खोजते है। ज्ञानी विषय-विरक्त होकर अन्तर्मुख वृत्ति के द्वारा निवृत्तिपथ में चलते हुए खोज रहे है और अज्ञानी

विषयासक्त होकर बहिमुर्ख वृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति के पथ में चलते हुए उसी आनन्दरूप प्रियतम को खोज रहे है।

ज्ञानी की खोज सन्मार्ग द्वारा यथोचित प्रकाश में होती है, इसीलिये वे पाते है; लेकिन अज्ञानी की खोज कुपथ द्वारा अन्धकार में होती है, इसीलिये वे संसार में भूलते भटकते फिरते हैं। जिसमें पूर्ण प्रेम है, सच्ची चाह है , पक्की लगन है, जो सांसारिक पदार्थों एवं सम्बन्धियों के संयोग-वियोग में सुख- दुःख नहीं मानता वही प्रेमी निर्भय होकर प्रेमपथ में सर्वत्र विजय प्राप्त करते हुए प्रेमास्पद की ओर बढ़ता जाता है और पूर्ण योगी होता है।

उत्तम प्रेमी प्रेमास्पद के अतिरिक्त संसार में कहीं भी इधर उधर नहीं झाँकता, उसकी तो टेक रहती है-

तुझे देखे तो तो फिर औरो को किन आँखो से हम देखे ।
ये आँखे फूट जाये गर्चे इन आँखों से हम देखे।।
'बावरी वे अखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारत गोरो ।।'

यह है प्रेमी के अपने प्रेमास्पद के प्रति अनन्य भावयुक्त अटल प्रीति, जिसमें प्रेमी प्रियतम के चिन्तन ध्यान में सब कुछ अटल प्रीति, जिसमें प्रेमी प्रियतम के चिन्तन ध्यान में सब कुछ भूल जाता है। सन्त-शब्दः-

लगन लगन सब कोइ कहै, लगन कहावे सोय।
नारायण जा लगन में, तन मन डारे खोय।।

उत्तम प्रेमी जब सर्वागों से प्रेमास्पद की उपासना में तत्पर रहता है तभी उसे संयोग-वियोग के परे नित्ययोग की सिद्धिहोती है। तभी तो प्रेमी हृदय से गा उठता है-

प्रियतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होय विदेश।
तन में मन में नैन में, तासों कहा सँदेस ।।

परम प्रेमास्पद कही दूर किसी विशेष दूर किसी विशेष देश एवं स्थान अथवा मन्दिर मूर्ति में ही नहीं मिलते बल्कि वे केवल प्रेम के द्वारा अपने आपमें ही प्रायः प्राप्त होते है, लेकिन उनकी नित्य उपस्थिति का अनुभव सर्वसाधारण व्यक्ति के लिये सरल नहीं है।

सन्त-शब्दः- 'सब घट सांई रमि रहा, सूनी सेज न कोय।
भाग्य तिन्हीं का री सखी, जिन घर परगट होय।।'(मीरा)

दया प्रेम उन्मत्त जे, तन की कछु सुधि नाहि।
झुके रहें हरि रस छके, थकै नेम व्रत माहि।।'
'प्रभु को पाने के लिये, प्रेमी से कर नेह।
प्रेमी में प्रभु बसत हैं, प्रेमी प्रभु की देह ।।

पूर्ण प्रेमी सन्त सत्पुरूष परम वन्दनीय है-

निरपेक्ष मुनि शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूये चेत्यंघ्रि रेणुभिः।।
श्री० भाग०११/१४

'भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि, जिसको कुछ परवाह नहीं, मननशील, शान्तचित्त, बैररहित, समदृष्टि वाला (राग द्वेष रहित) है, ऐसे पुरूष के पीछे-पीछे मै चलता हूँ कि इस प्रकार के सत्पुरुष की चरणरज से पवित्र हो जाऊँ।'

जिस परम प्रेमी सन्तपुरूष के चरणरज की इच्छा समर्थ योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज के मन में रहती हो उस प्रेमी सन्त को और उसके परम पद को बार-बार नमस्कार है। परमानन्दस्वरूप परमोत्कृष्ट चैतन्य समाधि को जिन्होंने सर्वकाल के लिये सिद्ध कर लिया है, ऐसे सिद्धपुरूषों को साष्टांग नमस्कार है।

जिस अन्तःकरण के भावों में रस लेते हुए एवं ज्ञान का गर्व करते हुए अनन्तकाल से संसार में मोहित होकर भ्रमित थे उसी अन्तःकरण के भाव एवं ज्ञान को सत्य चिन्मात्र तत्व की ओर उन्मुख करके जिसने जगत्- प्रपंच से अपने को अलग कर लिया है, ऐसे वीतराग, वीरात्मा को सदा नमस्कार है।मोह, माया की सीमा में आबद्ध अन्तःकरण की वृत्ति को त्याग एवं ज्ञान के बल से छुटा-कर जिसने निवृत्ति मार्ग के द्वारा परम लक्ष्य को प्राप्त किया है, ऐसे योगस्थ सन्त को नमस्कार है। परम पुरूषार्थ के द्वारा सत्य ज्ञानामृत का पान करते हुए मृत्यु से जो निर्भय है जिसकी अप्रतिहत विजय है, जो असंग आत्मा रूप परमात्मा में तल्लीन है, जो सदा स्वाधीन है ऐसे मुक्त पुरूष को नमस्कार है।

जगत् के क्षण भंगुर देहादिक पदार्थो एवं स्वसम्बन्धियों के प्रति जिनके मन में विराग है, प्रेमास्पद प्रभु के लिए जहाँ सर्वस्व का त्याग है, और एक

उन्हीं से अटल अनुराग है; जहाँ अभ्यस्त शम,दम है, अगाध संयम है; जिसका सफल पुरूषार्थ है, सिद्ध परमार्थ है; जिसकी स्थिर वृत्ति है और सत्स्वरूप में ही परम तृप्ति है; जिसकी बुद्धि में अति गहन गम्भीर ज्ञान है, जहाँ स्थिर ध्यान है, जो निरभिमान है और 'तू ही तू' का सर्वत्र भान है, जहाँ प्रवृत्ति की निवृत्ति है स्थिर वृति है, ऐसे कल्याण मूर्ति संत-पुरुष को बार-बार नमस्कार है।

जिसकी दृष्टि में कमनीय कलेवरा कामिनी- रक्त, मांस एवं मल-मूत्रादि दोषों की खान है और कांचन कंकड़ पत्थर के समान है, यह दृश्यमान जगत् जंजाल है, यहाँ का वैभव भोग मानो काल है, जिसके लिए रिद्धि सिद्धि एक ब्याधि है और सम्मान सेवा उपाधि है, जहाँ प्रभुता अनर्थ है, पूज्य पद व्यर्थ है, ऐसे सम्यक् दर्शी सत्पुरूष को नमस्कार है।

जो संसार के माने हुए सुखों को, दुःखों को और सम्बन्ध को मन से मिथ्या जानते हुए उनका मनन नहीं करते; जो शान्ति पद प्राप्त करके उसी में समस्थित रहते हैं, जिनकी उपस्थिति से जिन के दर्शन से प्राणियों को प्रसन्नता होती है; जिनके सद्गुणों एवं सत्कृत्यों का श्रवण तथा स्मरण करने से सद्भावों का विकास होता है; जो सबके हितकारी, और सबको आनन्द का मार्ग दिखाने वाले है; ऐसे सन्तों को बार-बार नमस्कार है।

जिनके वचन परम मधुर एवं कल्याणकारी है, जिनका प्रेम सद्गुण सौरभ से पूर्ण होकर चतुर्दिक सुवासित हो रहा है, जिनकी मुखाकृति आनन्द से सुमन की भाँति खिली रहती है; आशा जिनकी दासी हो चुकी है जिन्होंने तृष्णा पिशाचिनी को वश में करके छोड़ दिया है, भयरूपी भूत जिनसे भयभीत होकर सदा के लिये भाग गया है, काम की जिन्होने कमर ही तोड़ डाली है, क्रोध का काला मुँह करके जिन्होंने क्षमा की दासता में बाँध दिया है, लोभ को लँगड़ा करके उदारता के द्वार पर डाल दिया है और मोह का काया कल्प करके जिन्होंने शुद्ध उज्ज्वल रूप प्रदान किया है- ऐसे सन्तरूप सद्गुरुदेव को अनेक नमस्कार है।

जिनके पवित्र शरीर दिव्य परमाणुओं से सुगठित है; जिनके नेत्रों से, स्वच्छ नखों से निरन्तर पवित्र जीवन तत्व से भरी हुई प्राण धारा निःसृत होती रहती है; जो अपनी दृष्टि से, स्पर्श से ओर अपने पवित्र संकल्प से श्रद्धालु साधकों में सुप्त शक्तियों को जाग्रत करते है; जिनकी समीपता में जाते ही अनोखी स्फूर्तिकरी चेतना प्राप्त होती है; जिनके किंचित् समागम से ऐसे

शक्ति मिलती है, जो साधक की साधना में महीनों शिथिलता नहीं आने देती, जिनके उपदेश से प्रेरणा बल से अति कठिन व्रत, इन्द्रियदमन, मनोनिग्रह आदि दुःसाध्य साधन भी सुगम हो जाते है ऐसे सत्पथ-प्रदर्शक सद्गुरु-सन्त भगवान् को बारम्बार नमस्कार है।

'तनिक मान मन में नही, सबसों राखत प्यार।
नारायण ता सन्त पै, बार बार बलिहार।।'
'नीच नीच सब तरि गए, सन्त चरन लवलीन।
जातिहि के अभिमान ते, बूड़े बहुत कुलीन।।
'बूड़े बड़े बड़प्पने, रोम रोम अहंकार।
सतगुरु के परिचय बिना, चारों बरन चमार।।
त्रिधाप्येकं सदागम्यं गम्यमेक प्रभेदने।
प्रेम-प्रेमी-प्रेमपात्रं त्रितयं प्रणतोऽस्म्यहम्।।

'प्रेम, प्रेमी और प्रेमपात्र (प्रियतम) ये देखने में तीन होने पर वास्तव में एक हैं। इनका तत्व सदा सबकी समझ में नहीं आता । इन्हें एक रूप ही जानना चाहिए। मैं इन तीनों को, जो वस्तुतः एक हैं, प्रणाम करता हूँ।

संकल्प की महत्ता

विभिन्न आवश्यकताओं एवं कामनाओं की पूर्ति के लिये अहं और मन के मध्य सम्पुटित शक्ति से संकल्प की उत्पत्ति होती है। विधिवत् प्रयत्न तथा पुण्य के सुयोग से संकल्प की पूति होती है।

शुभ या अशुभ कामना के अनुसार संकल्प का रूप भी शुभ या अशुभ बन जाता है और शुभाशुभ संकल्पों के आधार पर कर्ता की सुगति या दुर्गति होती है।

संकल्प में जितनी अधिक दृढ़ता होती है, उतनी ही अधिक उसमें बाधाओं एवं कठिनाइयों को पार करने की शक्ति होती है। शुभसंकल्प से शक्ति का सदुपयोग होता है। अशुभ संकल्प से शक्ति का दुरूपयोग होता है।

शुभ संकल्प द्वारा मानव जड़ता से चेतना की ओर, बंधन से मुक्ति की ओर, प्रपंच से परमार्थ की ओर ओर असत् से सत् की ओर गतिशील होता है।

जिससे संकल्पशक्ति घटती जाती है वही भोगपथ है। जिससे संकल्पशक्ति बढ़ती जाती है वहीं योगपथ है।

भोगपथ के पथिक में अपने ही सुख के लिये संकल्प उठा करते है; योगपथ के पथिक में दूसरों के हित के लिये संकल्पों को स्थान मिलता है।

योगी प्राप्त शक्ति के सदुपयोग का ही संकल्प पूर्ण करता है किन्तु भोगी में अप्राप्त की प्राप्ति का और प्राप्त शक्ति सम्पत्ति के भोग का संकल्प चलता रहता है।

योगी आवश्यकतापूर्ति का पक्षपाती होता है इसलिये उसके मन में बहुत कम संकल्प उठते हैं और भोगी इच्छाओं की पूर्ति का पक्षपाती होता हे इसलिये अधिकाधिक संकल्प उठते रहते है।

योगी संकल्पों के निरोध-विरोध में स्वाधीन होता है किन्तु भोगी प्रायः संकल्पों के ही अधीन रहता है।

संकल्पों के निरोध से योगी में शक्ति की वृद्धि होती है। इसके विपरीत संकल्पों का अधिकता से भोगी के जीवन में शक्ति का ह्रास होता है।

योगी चूँकि निरपेक्ष रहता है इसीलिये उसका संकल्प अदृश्य चित्शक्ति द्वारा अनायास ही पूर्ण होता है। भोगी अपनी पूर्ति के लिये सांसारिक वस्तु तथा व्यक्ति की अपेक्षा रखता है इसीलिये उसका संकल्प दूसरों के आश्रय में विशेष

प्रयत्न करने पर पूर्ण होता है।

योगी अपने से अभिन्न परमात्मा की नित्य योगानुभूति का संकल्प पूर्ण करना चाहता है इसलिये वह संयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्त रहता है। भोगी अपने से भिन्न वस्तु के संयोग का संकल्प उठाता है इसीलियें वह संसार में बद्ध रहता है।

योगी अपने संकल्पूर्ति के रस में कहीं आसक्त न रहने के कारण सदा निश्चिन्त निर्भय रहता है। भोगी अपने संकल्पों की पूर्ति में रस लेते हुए आसक्त हो जाने के कारण प्रायः चिन्तित भयातुर रहता है।

योगी संकल्पों का निरोध करते हुए शक्ति प्राप्त करता है तथा संकल्पों से असहयोग रखते हुए मुक्ति प्राप्त करता है और अपने को भगवद्-संकल्पपूर्ति का साधन बनाकर भक्ति प्राप्त करता है।

जो सत्य, अर्थात् परमात्मा से भिन्नता की अनुभुति कराता है और जो कुछ अपने से भिन्न है उसकी प्राप्ति का संकल्प, उस वस्तु व्यक्ति से मानसिक सम्बन्ध स्थापित कर देता है वही बंधन दुःख का हेतु बनता है।

संकल्प से ही मानव अपनी सृष्टि का विस्तार करता है। संकल्प से ही तत्वज्ञानी सृष्टि का संहार देखता है। संकल्प में बंधन, संकल्प से ही मुक्ति का द्वार खुलता है।

बुद्धिमान् विवेकी मानव को अपने संकल्प से तटस्थ होकर सदा सावधान रहना चाहिये ।

संकल्पों का सर्वथा अन्त हो जाने पर अनन्त के योग की सिद्धि होती है, वहीं पर जीवन की पूर्णता है।

यह गुरु-आज्ञा हैं कि विवेकी साधक प्रथम अशुभ संकल्प का त्याग करें। अशुभ संकल्पों का त्याग करने पर शक्ति की गति ऊर्ध्वमुखी होगी अर्थात् उसका प्रवाह नीचे की ओर न होगा। वही शक्ति शुभ संकल्पों की पूर्ति में सर्वथा सहायक बनेगी। जब शुभ संकल्प पूरे होने लगें तब उनकी पूर्ति में साधक रस न ले, क्योंकि संकल्पपूर्ति के रसास्वाद से आसक्ति, मोह,अभिमान आदि दोषों की वृद्धि होती है ओर रसास्वाद के त्याग से शान्ति मिलती है। शान्ति भी एक रस ही है। गुरू विवेक से सहारे शांति के रस की भी उपेक्षा करना आवश्यक होता है। तभी अखण्ड आनन्द एवं अनन्त रस सुलभ होता है- ऐसा अनुभवी गुरु का वचन है।

समाधान

१- समस्त प्राणीमात्र से प्रेम करो लेकिन किसी के दोषों दुर्गुणों का पक्ष न करो।

२- सब पर दयाभाव रक्खो लेकिन विचार रहित धर्मान्ध होकर दया का दुरुपयोग न करो।

३- अपनी बुराई करने वालों एवं अपना अपमान करने वालों, हानि पहुँचाने वालो को क्षमा करो लेकिन जहाँ क्षमा करने से उनमें दोषों दुर्गुणों की वृद्धि होती हो वहाँ क्षमा का दुरूपयोग न करो।

४- सहनशील रहो लेकिन अन्यायी, आततायी के अत्याचार को शक्ति के रहते हुए सहन न करो बल्कि उसका विरोधनिरोध करो।

५- अपनी हर प्रकार की शक्ति से दूसरों की सेवा सहायता करो लेकिन केवल सुखी करने की दृष्टि से नहीं, बल्कि उनके हित की दृष्टि से करो।

६- अन्यायी को दण्ड देने की शक्ति होते हुए अवश्य दण्ड दो, लेकिन अपनी स्वार्थ-हानि से क्रोधित होकर नहीं; बल्कि उसके सुधार एवं कल्याण की भावना से दण्ड दो।

७- उदासीन होकर रहो लेकिन निर्मम बनकर नीरस हृदय न हो जाओ। मितव्ययी बनों परन्तु कंजूस होने से सावधान रहो। दृढ़प्रतिज्ञ बनो लेकिन हठाग्रही होने से बचते रहो।

८- लक्ष्य की ओर शीघ्रता से बढ़ो। विवेकी और दूददर्शी होकर चलो। अध्यवसायी-परिश्रमी बनो लेकिन दुस्साहस न करो।

९- अपने जीवन में जहाँ कहीं कुछ जानने समझने की आवश्यकता हो तो सन्त-सद्गुरु का ही आश्रय लेकर ज्ञान प्राप्त करो।

१०- यदि कभी किसी की बात मानना ही पड़ती हो तो सन्त-सद्गुरु

की ही बात मानो; क्योंकि इसी से कल्याण होगा।

११- जिस प्रकार निकटवर्ती सम्बन्धियों ने जैसा तुम्हें बनाया वैसे ही बनते गये हो, उसी प्रकार सन्त-महापुरूष आपको जैसा बनावें वैसा बनते जाओ।

१२- जो आपको जगत् में दीखता है उसके बाहरी रूप को ही न देखते रहो, बल्कि उसके भीतरी रूप को जानो और उसके भी आगे उसके तत्वतः रूप को जानो।

१३- प्रत्येक वस्तु का स्थूल रूप के अतिरिक्त दिव्य रूप और तत्वतः रूप होता है, जो कि स्थूल दृष्टि, दिव्य और ज्ञानदृष्टि से देखा जाता है। स्थूल दृष्टि के पीछे दिव्य दृष्टि और ज्ञानदृष्टि सन्त-सद्गुरू अथवा भगवद्-कृपा से खुलती है।

१४- यदि सफलता चाहते हो तो कहीं आलस्य को स्थान न दो; इस अनर्थकारी आलस्य के कारण ही पृथ्वी में मनुष्य मूर्ख और दरिद्र दिखाई देते है।

१५- जन-समाज की ओर से मिलने वाले मान और भोग-सुखों को महत्व न दो, क्योंकि मान और भोगों की अधिकता से मन शीघ्र मलिन हो जाता है, अतः इन सबसे विरागी बनो; परन्तु सावधान रहो कि अविवेकी मनुष्यों की तरह विराग की वृद्धि में भी कहीं अभिमान न आने पाये।

१६- सात्विक और स्वल्प आहार करो, क्योंकि भोगों का मूल आहार की पुष्टता है। सन्त का वचन हैः- अधिक आहार से भजन का रहस्य नहीं खुलता, वचनों का स्मरण नहीं रहता, दया क्षीण हो जाती है, आलस्य बढ़ता है, भोगों की इच्छा प्रबल होती है और अधिक भोजन करने पर पचाने में समय शक्ति का अपव्यय होता हे। रोगों का मूल आहार की अधिकता है।

१७- स्वल्प आहार से मन शुद्ध होता है, भजन में स्थिरता, दीनता, नम्रता की वृद्धि, क्षुधा से क्षुधित प्राणियों की पीड़ा का बोध

होता है, संयम में दृढ़ता, निद्रा की क्षीणता, समय का सदुपयोग होता है, शरीर आरोग्य रहता है, स्वल्प जीविका से निर्वाह और उदारता की वृद्धि होती है।

१८- यदि आप ऐश्वर्यवान् हो तो सज्जनता के द्वारा अपनी हर प्रकार की शक्ति का सदुपयोग करो।

१९- यदि आप शूरवीर हो तो वाक् संयम एवं निरभिमान भाव को साथ लेते हुए शूरता को सदा निष्कलंक रक्खो।

२०- यदि आप वेदशास्त्र के ज्ञाता हो, तो विनय भाव को कहीं न भूलो।

२१- यदि आप ज्ञानी हो तो शान्ति के द्वारा, ज्ञान की महत्ता को दर्शाते रहो।

२२- यदि आप धनी हो तो सुपात्र को दान के द्वारा धन को सार्थक करते रहो।

२३- यदि आप तपस्वी हो तो सरल रहकर शक्ति की सफलता का परिचय देते रहो।

२४- यदि आप प्रभुता-सम्पन्न हो तो क्षमा के द्वारा, प्रभुता के यश को बढ़ाते रहो।

२५- यदि आप धर्मात्मा हो तो भयरहित शान्ति प्राप्त करते हुए, धर्म की सत्यता का परिचय दो।

२६- यदि आप सन्तों के समीपवर्ती बुद्धिमान् हो तो बड़े परिश्रम से प्राप्त किया हुआ धन यदि दैवयोग से नष्ट हो जाय तो अपने चित्त को म्लान अथवा चिन्तित, खेदित न होने दो; क्योंकि जो काम अपनी शक्ति के बाहर हो उसके लिये विद्वान् कभी शोक नहीं करते ।

२७- निरर्थक संकल्प से चित्त की चंचलता बढ़ती है, अतः उसका शीघ्र ही परित्याग करो।

२८- प्रत्येक पाप का प्रायश्चित यही है कि फिर वह पाप न करो।

२९- कहकर या संकेत से या कर्म के द्वारा किसी के छिद्र को प्रगट न करो, क्योंकि यह निंदारूपी पाप है; लेकिन छिद्र के प्रगट करने में उसका हित होता हो तो अवश्य करो।

३०- ऐसे धन के धनी बनो कि कहीं निर्धनता न रह जाय। असंख्य सम्पत्ति होने पर भी जिसमें सांसारिक पदार्थों का लोभ है वह तो निर्धन ही है।

३१- अपने लिये संसार से सुख की कामना न रक्खो, तभी संसार का हित किसमें है- सुनने देखने लगोगे।

३२- जब दूसरे लोग आपसे सज्जनता का व्यवहार करें तब अपने को गुणी समझने की भूल न करो, जहाँ कहीं परिस्थिति अनुकूल हो वहाँ अपनी शक्ति की सफलता मान कर अभिमानी न बनो।

३३- यदि आप ऐश्वर्यशाली होना चाहते है तो अधिक निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, ईर्ष्या एवं आलस्य और दीर्घसूत्रता (जल्दी के कामो में देर लगाने की आदत) छोड़ दो। वर्तमान कर्तव्य को पूर्ण मनोयोग द्वारा पूरा करो।

३४- कठोर स्वभाव और कृपणता से अपने को बचाते रहो; क्योंकि ये भगवान् से विमुख करते है।

३५- यदि आपका स्वभाव सरल है, विनम्रता से पूर्ण है तो आप उत्तम साधु हैं। कठोर स्वभाव ऐसा पाप है कि उसके होते हुए कोई शुभ गुण लाभदायक नहीं होता।

३६- यदि आप धनी हो तो निर्धनों पर ग्लानि न करो, क्योंकि ईश्वर सबका एक है। जो निर्धनों को नीच समझकर धनवानों के साथ प्रीति करता है वह निस्सन्देह पुण्यपथ से पतित होता है। जो सन्तोषी निर्धनों के साथ प्रीति करता है वह पुण्यपथ में उत्थान को प्राप्त होता है।

३७- जो सांसारिक धन से निर्धन होने पर ईश्वर को धन्यवाद देता है और धनी होने पर उदारता पूर्वक दानी होता है वह महात्मा

पुरूष है।

३८- जिन्हें अपनी वासनानुसार भोगसुख प्राप्त हैं, उन प्राप्त सुखों का दुखियों के लिये यदि वे दान नहीं करते तो परमार्थी की दृष्टि में ऐसे सुखी अति मन्द-भागी है।

३९- जब आप सब पापों से रहित हो तभी पूर्ण त्यागी हो। आप यह भी याद रक्खो- ऐसा कोई दुःख नहीं जिससे अधिक दुःख न हो। दुःख से रहित निर्मल की आशा संसार से कदापि न रक्खो, क्योंकि वह किसी को नहीं मिला। दुःख से रहित तो वह आनन्द ही है जो सत्य से प्राप्त होता है।

४०- अपने से किसी को नीच न समझों क्योंकि यह अहंकारी मनुष्य का दुर्गुण है। याद रक्खो! अभिमान ऐसा पाप है जिसे कोई भी शुभ कर्म नष्ट नहीं कर सकता ।

४१- जिसकी संगति से सद्भावों का विकास, सद्ज्ञान का प्रकाश और दुर्गुणों का नाश हो उसी की संगति करो।

४२- एक पुरूष की संगति आहार की भाँति नित्य चाहिये, एक पुरूष की संगति औषधि की तरह कभी-कभी चाहिये और एक पुरूष की संगति रोग की तरह होती है जो कभी न चाहिये।

४३- जिस प्रकार रोगी का वैद्य के पास रहना, औषधि करना आवश्यक होता हे, उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य के लिये सन्त-सद्गुरु के समीप रहना और उनकी आज्ञानुसार जीवन को निर्मल बनाना अत्यावश्यक है।

४४- यदि आप सत्य के महासागर मे तैरते रहना चाहते हो तो अपने को उसका बिन्दु अनुभव करते हुए अपने क्षुद्र अहं को उसी में मिला दो।

४५- यदि आप उस सत्यरूपी सूर्य से अभिन्न रहना चाहते हो तो अपने को एक किरण अनुभव करते हुए नित्य स्वस्थ रहो।

४६- सांसारिक अर्थ और कामना की पूर्ति प्रारब्ध पर छोड़ दो लेकिन धर्म ओर मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रारब्ध के सहारे न रहकर पुरूषार्थ का आश्रय लो।

४७- अधिकारी मनुष्य के लिये जगदाकार में छिपा हुआ जगदाधार-सत्य उतना ही सुगम है जितना चींटी के लिये बालू में मिली हुई शक्कर सुगम है; अतः आप जिस प्रकार हो सके सच्चे अधिकारी बनो।

४८- परमार्थ-प्राप्ति के पथ में यदि संसार बाधक बनाता है अर्थात् जिस किसी का चिन्तन विक्षेप डालता है अवश्य ही आप उसके ऋणी हो; अतः उऋण होने के लिये उसकी निष्काम सेवा करो। सेवा का अर्थ है संसार का जो कुछ भी तुम्हारे पास है वह संसार के लिये दिये रहो, अपने लिये संसार से कुछ भी न चाहो। तभी अपने में अपने परमाधार प्रभु को पा सकोगे।

४६- जब तक आप सांसारिक सुखभोगों में आसक्त रहोगे तब तक सेवा का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकते। सुखी रहने से दुखियों के दुःख का अनुभव नहीं होता, इसलिये बुद्धिमान् सुख-भोगों का ही त्याग करता है; भोगजनित सुखों की चाह का त्याग करना ही सच्चा त्याग है।

५०- पराये दोषों को देखकर अपने सीमित गुणों में रस न लो, किसी से घृणा न करो, किसी का अपमान न करो। जब आपका मन किसी की बुराई न चाहे, पराई वस्तु की इच्छा न करे, सांसारिक पदार्थो को, सुख-दुःख को सत्य न माने तभी वह स्वस्थ और पवित्र है।

५१- जब आपको अपने में कोई गुण न दिखाई दें और कोई दोष भी न रहें तभी निर्दोष जीवन है।

५२- जो अपने लिये आप प्रिय समझते हो वही दूसरों को दो और जो अप्रिय समझते हो वह दूसरों को कदापि न दो।

५३- कर्तव्य का प्रश्न लेकर इस प्रकार न पूछो कि हम क्या करें

बल्कि यह देखो कि हम क्या कर सकते हैं। जो कर सकते हो उसे पूरा करने में आलस्य, प्रमाद न करो।

५४- आप जो कुछ चाहते हैं उसी का गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करते रहो तो आपको वह अवश्य प्राप्त होगा।

५५- आप अपने प्रेमास्पद प्रभुको प्यार की शक्ति से अपने पास बुला सकते हो और विवेक की शक्ति से उनके पास जा सकते हो।

५६- हमने सन्त-सद्गुरु से पूछा कि परमेश्वर कैसा है, तब वे मुझसे पूछने लगे कि तुम्हें कैसा ईश्वर चाहिए। इसका आशय यह है कि आपके भावानुसार ही ईश्वर निश्छल प्रेम के द्वारा मिलेगा।

५७- अपने प्रभु के समीप पहुँचना चाहते हो तो खाली होकर जाओ, तभी उस परमानन्दस्वरूप से अपने को भरा हुआ पाओगे। उनके पास कुछ ले के जाने की आवश्यकता नहीं है।

५८- जब आप अपने में प्रेमास्पद प्रभु की चाह के अतिरिक्त और कुछ न पाओगे तभी उनके शरणागत हो सकोगे। एक सन्त का वचन है-अपने दिल को ख्यालों से खाली कर दो-यह ईश्वर से मिलने का सुगम रास्ता है।

५६- सब कुछ देकर उन्हें लो परन्तु किसी के बदले में उन्हें न दो।

६०- हर काम के अन्त में अपने पर प्रभु की उपासना करो।

६१- 'मैं हूँ' अर्थात् अहंकार ही जीवदशा में आपका स्वरूप है।

६२- पूर्ण ममत्व, पूर्ण अपनत्व अर्थात् जिससे मिलना उसी से तन्मय हो जाना ही आपका स्वधर्म है।

६३- सत्य प्रेम ही स्वधर्म का फल है। स्वधर्म की साधना को भक्ति कहते है ओर सिद्धावस्था को प्रेम कहते है।

६४- जो आपके दोषों को मिटा दे, सत्य लक्ष्य तक पहुँचा दे, वही सच्चा साधन है।

६५- जहाँ किसी प्रकार की कमी का अनुभव न हो, पूर्ण शान्ति, पूर्ण आनन्द का बोध हो वही आपका सत्य लक्ष्य है।

६६- जिसके द्वारा अपने स्वरूप का, अपने जीवन के लक्ष्य का, और लक्ष्यप्राप्ति के साधन का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो वही परम हितैषी गुरु है।

६७- गुरुदेव से मिलने पर जो व्यक्ति संसार से निरासक्त होकर पहिले के सभी सम्बन्धियों से अधिक गुरुदेव के प्रति प्रगाढ़ प्रीति करता है। जो अपने से अधिक गुरुदेव को प्यार करता है, वही सच्चा शिष्य है। जिस भाव के द्वारा साधक के हृदय में साध्य के प्रति पूर्ण अपनत्व दृढ़ होता है, जहाँ बुद्धि से उत्पन्न कोई विरोध नहीं ठहर पाता, जहाँ श्रद्धास्पद के सब कुछ की स्वीकृति के लिए हृदय खाली रहता है, वही शिष्य की श्रद्धा है।

६८- जो प्रेमी को प्रेमास्पद और प्रेमी बना देता है वही श्रद्धासंयुक्त प्रेम है। जिससे प्रीति की दृढ़ता होती है और अभिन्न होने पर भी भिन्नता रहती है वही प्रेमी का विरहयोग है।

६९- जहाँ देहाभिमान गल जाता है, कोई भी संशय नहीं रह जाता, परम तृप्ति एवं तुष्टि और शान्ति का अनुभव होता है वही सत्य ज्ञान है।

७०- जब तत्वदृष्टि स्थायी हो जाती है और सृष्टि विलीन हो जाती है, यही ज्ञानी की समाधि है।

७१- जो प्रेमास्पद को चाहता है, जो कहीं निराश नहीं होता, और न हार स्वीकार करता है, जिसमें इतनी विरहाग्नि प्रज्वलित होती है कि मनबुद्धि आदि सभी विरह बनते जाते हैं वही सच्चा प्रेमी है।

ओ३म आनन्द आनन्द आनन्द

जानने और मानने योग्य